अध्याय -- २

भक्ति सम्बन्धी आन्दोलन

(क) आलवर

(ख) आचार्यों का कार्य

(ग) संघर्षों की स्थिति

(घ) दक्षिण से उत्तर के अभियान में भक्ति सम्प्रदाय में संशोधन

अध्याय -- २

भक्ति सम्बन्धी आन्दोलन

दक्षिण भारत की विचारधारा

भक्ति-आन्दोलन भारतवर्ष के मध्ययुगीन इतिहास की महत्वपूर्ण घटना है। मध्ययुग की अनेक घटनाओं ने समष्टिरूप से भक्ति के धार्मिक आन्दोलन को विकसित किया। भक्ति का जन्म तो दक्षिण भारत में हुआ, किन्तु धीरे-धीरे इसका विकास उत्तर भारत में भी होने लगा।

दक्षिण भारतीयों के हृदय में भगवत्-प्रेम की आस्था को जागृत करने वाले दो संत समुदाय हुए। एक तो शैव संत, जिनकी संख्या ६४ मानी जाती है। इनमें माणिक्क वाचक, सम्बन्ध, बागीश और सुन्दर ये चार संत सबसे अधिक प्रसिद्ध हुए। इनकी अमरवाणी 'देवरम्' (जिसका अर्थ है भगवत-प्रेम के हार) तथा 'तिरु वाचकम्' (जिसका अर्थ है 'पवित्र वाणी') -- इन दो महान आध्यात्मिक ग्रन्थों में आज भी सुरक्षित हैं। दूसरा समुदाय दक्षिण भारत के आध्यात्मिक गगन में नक्षत्रों की भाँति चमकने वाले वैष्णव संतों का था जो 'आलवार' नाम से प्रसिद्ध हैं। 'आलवार' का अर्थ है 'अध्यात्म ज्ञान रूपी समुद्र में गहरा गोता लगाने वाला साधक।'

यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि भक्ति का जनव्यापी प्रभाव दक्षिण के अलवार गायकों से ही ईसा की छठवीं शताब्दी में आरम्भ हुआ।

१- डा० रामकुमार वर्मा -- 'संत काव्य(निबन्ध)' -- हिन्दी साहित्य, द्वितीय भाग, पृ० १८७।

यों तो भक्ति की परिकल्पना वैदिक साहित्य के ग्रन्थों में बहुत पहले ही हो चुकी थी, तथापि उसका जनव्यापी आन्दोलन ईसा की छठीं शताब्दी में आलवार गायकों द्वारा हुआ। इनके गीत अत्यन्त लोकप्रिय सिद्ध हुए, इसलिए कि जनता याज्ञिक अनुष्ठान के दुरूह मार्ग से ऊबकर भक्ति के रागात्मक मार्ग की ओर अग्रसर होना चाहती थी। फलत: भक्ति का विकास जोर पकड़ ही रहा था कि इसी बीच ८ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में शंकराचार्य का आविर्भाव हुआ। उन्होंने अद्वैतवाद के दार्शनिक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उनके अनुसार समस्त संसार असत्य है। केवल एक शुद्ध पर ब्रह्म ही सत्य है[१]। केवल भ्रम अथवा माया से भेद की प्रतीति होती है। वस्तुत: जीवात्मा परमात्मा का स्वरूप है। माया मानवीय दृष्टि से भ्रम उत्पन्न करती है, जो मिथ्या है। उन्होंने ब्रह्म को 'सर्वं खल्विदं' कहकर निर्विशेष, निर्गुण निराकार बताया। उनका यह 'अद्वैतवाद' का सिद्धांत भक्ति के विकास में बाधक सिद्ध हुआ-- इसलिए कि जब जीव और ब्रह्म एक ही है तो भक्ति किसकी तथा किसके लिए की जाय।

इनके उपरान्त आचार्य युग के सर्वप्रथम श्रीनाथ मुनि ने भक्ति की दार्शनिक व्याख्या की। उन्होंने कर्म एवं भक्ति, लोक तथा वेद-- दोनों में सामन्जस्य स्थापित किया। यद्यपि 'विशिष्टाद्वैतवाद' सिद्धान्त के प्रतिपादक श्री रामानुजाचार्य समझे जाते हैं तथापि उस सिद्धान्त की नींव नाथ मुनि ने ही डाली थी। इन्होंने 'न्याय तत्व' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया, जो विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त की पृष्ठभूमि उपस्थित करता है। इसमें उस मत के दार्शनिक दृष्टिकोण का प्रारम्भिक विवेचन है[२]।

नाथमुनि के पश्चात् पुण्डरीकाक्ष (उय्यकोंडार) एवं राममिश्र (मणवकालनम्बी) नाम के दो आचार्य हुए, जिन्होंने भक्ति का प्रचार किया। नाथमुनि ने भक्ति प्रधान वैष्णवमत के संगठन का जो कार्य शुरू किया

१- 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'।
२- न्याय परिशुद्धि-- श्रीवेदान्तदेशिकाचार्य, पृ० १३

था उसे यामुनाचार्य ने आगे बढ़ाया जो राममिश्र के बाद के प्रमुख आचार्य थे। इन्होंने चोल राजा और उसकी पत्नी को वैष्णव सम्प्रदाय में दीक्षित किया तथा प्राचीन आलवारों के भक्ति साहित्य का प्रचार-प्रसार किया। यद्यपि नाथ मुनि, यामुनाचार्य आदि आचार्यों द्वारा श्री वैष्णव मत की रूपरेखा बन चुकी थी तथापि उसके संगठित और समन्वित रूप का देशव्यापी प्रचार आचार्य श्री रामानुजाचार्य ने ही किया। उनके अनुसार 'जगत् जड़ है। जगत् ब्रह्म का शरीर है। ब्रह्म जगत् के रूप में व्यक्त है। जगत् सत्य है, मिथ्या नहीं है। जीव भी ब्रह्म का शरीर है, ब्रह्म और जीव दोनों ही चेतन है। ब्रह्म विभु है, जीव अणु है, ब्रह्म पूर्ण है, जीव अंश भूत है। ब्रह्म ईश्वर है, जीव दास है, ईश्वर कारण है, जीव कार्य है।[1]' श्री रामानुज भी ब्रह्म की अद्वैत सत्ता को स्वीकार करते हैं किन्तु उनके अनुसार उपर्युक्त तीनों गुणों से विशिष्ट रहने के कारण उनका सिद्धान्त 'विशिष्टाद्वैत' है।

शंकराचार्य के अद्वैत मत में जीव और ब्रह्म की एकता स्वीकार की गई है। जीव ब्रह्म का ही प्रतिबिम्ब है और ब्रह्म के समान ही मुक्त तथा स्वप्रकाशित है, परन्तु रामानुज के अनुसार न जीव, ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है, न नित्य मुक्त ही। जिस प्रकार आग से निकलने वाली चिनगारी उसका अंश है, उसीप्रकार जीव भी ब्रह्म से निर्गत होता है और उसी का अंश है। तात्पर्य यह कि 'रामानुजाचार्य ने अद्वैत के भीतर ही एक नए सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, जिसमें जीव को ब्रह्म का एक विशिष्ट रूप माना गया, जो ब्रह्म से भिन्न तो नहीं है, किन्तु अपने पार्थक्य से वह ब्रह्म का विशिष्ट भाग होते हुए भक्ति का अधिकारी है। इस भांति दर्शन के आधार पर शंकर ने जो भक्ति की महत्ता समाप्त कर दी थी, वह नए ढंग से पुनः प्रतिष्ठित हुई।[2]'

श्री रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत के बाद 'द्वैताद्वैतवाद' का भी प्रतिपादन किया गया। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक श्री निम्बार्काचार्य हुए।

१-कल्याण भक्ति अंक- वर्ष ३२, अंक १, पृ० १८३ (श्री रामानुजाचार्य की भक्ति)।
२-डा० रामकुमार वर्मा-हिन्दी साहित्य, द्वितीय खण्ड--सन्त काव्य (निबन्ध), पृ० १६०।

शंकराद्वैतवादियों के विरोध में ही इस सिद्धान्त का आविर्भाव हुआ । इस संप्रदाय के अनुसार यद्यपि जीव,जगत और ईश्वर भिन्न-भिन्न हैं,तथापि जीव तथा जगत का सम्पूर्ण कार्य व्यापार एवं अस्तित्व ईश्वर की इच्छा पर ही अवलम्बित है । जीवात्मा अवस्था-भेद से ब्रह्म के साथ भिन्न भी है तथा अभिन्न भी । वह अणु रूप है, विभिन्न शरीरों में पृथक्-पृथक् है, अनन्य विशिष्ट है और ज्ञानी है । ईश्वर की कृपा से ही उसे अपनी प्रकृति का ज्ञान होता है । तात्पर्य यह कि निम्बार्क सम्प्रदाय में प्रेम-लक्षण-रागात्मिका परा भक्ति ही भक्ति साधना का चरम लक्ष्य है ।

श्री निम्बार्काचार्य के पश्चात् शंकर के मायावाद का खण्डन करने वाले आचार्य मध्वाचार्य हुए । इन्होंने अद्वैतवाद का खण्डन कर 'द्वैतवाद' सिद्धान्त का प्रतिपादन किया । भक्ति के लिए,भगवान और भक्त का पार्थक्य आवश्यक है । सम्पूर्ण जीव भगवान् के अनुचर हैं,अर्थात् जीवों की सम्पूर्ण शक्ति भगवान् पर आधृत है । यहां तक कि भगवान के बिना जीव में स्वत: किसी भी कार्य-सम्पादन की क्षमता नहीं रहती । इसलिए भगवान् का कृपा-पात्र बनने के लिए जीव को एकमात्र भक्ति मार्ग का अवलम्बन लेना पड़ा । मध्वाचार्य का यह द्वैतमत भारतीय धर्म-साधना में अलग महत्व रखता है । मध्व ने मायावाद का खण्डन कर भक्ति-पथ को निष्कंटक किया ।

श्री रामानुजाचार्य,निम्बार्काचार्य और मध्वाचार्य के साथ दक्षिण के वैष्णव आचार्यों में श्री विष्णु स्वामी का भी महत्व है । ये रुद्र सम्प्रदाय (विष्णु सम्प्रदाय) के प्रवर्तक माने जाते हैं । किन्तु खेद का विषय है कि विद्वानों द्वारा आज तक उनके तथा उनके जन्म एवं सिद्धान्तों के विषय में कोई विशिष्ट मत की प्रतिष्ठा नहीं हुई है । यद्यपि उनके नाम से 'शुद्धाद्वैत सिद्धान्त' के प्रचारित और प्रसारित होने की बात कही गई है । साथ ही उनके

+--- जन्मतिथियों एवं सिद्धान्तों में मतभेद होने के कारण कई विष्णुस्वामियों की कल्पना विद्वानों ने की है ।

'सर्वज्ञ सूक्त' नामक ग्रन्थ का भी निर्देश किया जाता है । इस ग्रन्थ के अनुसार 'ईश्वर' सच्चिदानन्द स्वरूप है । 'माया' ईश्वर के अधीन है । विष्णु स्वामी के इस ईश्वर को सत्, चित्, नित्य, निजाचिंत्य सर्व पूर्णानन्दमय विग्रह धारी नृसिंह भी कहा गया है । विष्णु स्वामी के इष्टदेव इस प्रकार नृसिंहावतार भगवान् जान पड़ते हैं[1] । इन्होंने भी श्री रामानुजाचार्य की भांति ईश्वर और जीव में भेद मानकर भक्ति की महत्ता स्वीकार की । तात्पर्य यह कि रामानुज के बाद मध्व, निम्बार्क तथा विष्णु स्वामी ने भी भक्ति का पक्ष सबल बनाया, जो शंकर के ज्ञान तथा योग से अधिक शक्तिशाली प्रमाणित हुआ, यद्यपि यह ज्ञान और योग शैव धर्म का आश्रय ग्रहण कर नाथ सम्प्रदाय के रूप में भारत के अनेक स्थानों में प्रचारित होता रहा ।

उत्तर भारत में प्रवेश

भक्ति की लहर जब दक्षिण से उत्तर की ओर पहुंची, उसे अनेक विचार-सरणियों का सामना करना पड़ा, क्योंकि शंकर के प्रभाव के साथ ही साथ शैव सम्प्रदाय ज़ोर पकड़ चुका था । ज्ञानेश्वर, जिन्होंने १२९०ई० में 'ज्ञानेश्वरी' की रचना की, स्वयं नाथ सम्प्रदाय के अनुयायी थे ।

नामदेव (जन्म १२७०ई०) ने विट्ठल की उपासना की, जिसमें नाम-स्मरण का अत्यधिक महत्त्व है । यह विट्ठल सम्प्रदाय सन् १२०९ के लगभग पंढरपुर में प्रचारित हुआ । इसके प्रचारक कन्नड संत पुण्डलीक कहे जाते हैं[2] । विट्ठल सम्प्रदाय शैव तथा वैष्णव सम्प्रदाय का मिश्रित रूप है । पंढरपुर में विट्ठल की मूर्ति शिवलिंग को शीश पर चढ़ाए हुए विष्णु की ही है । इस प्रकार विट्ठल ब्रह्म के प्रतीक बनकर समस्त महाराष्ट्र में आराध्य मान लिए गए, तात्पर्य यह कि महाराष्ट्र में दक्षिण की भक्ति को लेकर ऐसी विचारधारा प्रवाहित हुई, जिसमें विट्ठल को ब्रह्म के रूप में स्वीकार किया गया तथा उनके प्रेम की पवित्र धारा में

१- श्री परशुराम चतुर्वेदी--वैष्णवधर्म, पृ० ९४-९५
२- डॉ० रामकुमार वर्मा --संत काव्य (निबन्ध)-हिन्दी साहित्य (द्वितीय खण्ड), पृ० १९१

जाति वर्ग का समस्त कलुष बह गया और नाम की महत्ता स्थिर हो गई। नामदेव ने भी मूर्ति-पूजा पर बल न देकर नाम की महत्ता पर ही बल दिया, जिसका कारण था मुसलमानों के आक्रमण का आतंक, जिनके द्वारा मन्दिर गिराने और मूर्ति तोड़ने की प्रवृत्ति अधिक बढ़ रही थी। नामदेव महाराष्ट्र संत ज्ञानेश्वर के समकालीन थे, जो नाथपंथ की परम्परा में आते हैं। उनके सम्पर्क से नामदेव में भी नाथ सम्प्रदाय का प्रभाव न्यूनाधिक मात्रा में पड़ा था। इस प्रकार, विट्ठल की इस आन्तरिक उपासना के तीन उपकरण माने जा सकते हैं-- भक्ति का प्रेमतत्व, नाथ सम्प्रदाय का चिन्तन और मुसलमानी प्रभाव से मूर्ति-पूजा का वर्जित वातावरण[1]।

आगे चलकर जब भक्ति-आन्दोलन महाराष्ट्र और गुजरात से होकर उत्तर भारत में पहुंचा तब उसे एक नई दिशा प्राप्त हुई, जिसमें भक्ति की प्रमुख दो धारायें प्रवाहित हुईं-- (१) राममक्ति, (२) कृष्ण भक्ति।

राम-भक्ति-शाखा

राम-भक्ति-शाखा के प्रवर्तक आचार्य रामानन्दजी हुए। इनका सम्बन्ध रामानुजीय सम्प्रदाय से था। तात्विक दृष्टि से ये रामानुजाचार्य के मतावलम्बी थे, किन्तु इनकी उपासना का मार्ग कुछ भिन्न हो गया। इनके इष्टदेव वैकुण्ठ निवासी 'विष्णु' या नारायण न होकर लोक-शिक्षा देने वाले मर्यादा पुरुषोत्तम 'राम' हुए। 'राम-नाम' ही इनका मूल मन्त्र था। इनकी भक्ति में जाति-पांति का कोई भेद-भाव नहीं था। आचार्य होते हुए भी इन्होंने निम्न जाति के व्यक्तियों को वैष्णव-धर्म में दीक्षित किया। इनके शिष्यों में कबीर जुलाहे थे, सैन नाई थे तथा रैदास चमार थे।

श्री रामानन्द ने राम-भक्ति की जो विमल धारा बहाई वह सम्पूर्ण उत्तरी भारत को अभिसिंचित करती हुई नवीन परम्पराओं को प्रेरणा

१- डा० रामकुमार वर्मा-- संत काव्य(निबन्ध)-हिन्दीसाहित्य(द्वितीय खण्ड) पृष्ठ १६२।

देती रही । कालान्तर में इस राम-भक्ति की दो प्रबल शाखायें हुईं-- पहली निर्गुण -भक्ति धारा, जिसके प्रचारक संत कबीर हुए तथा दूसरी सगुण भक्ति धारा, जिसके प्रवर्तक भक्त-शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास हुए ।

निर्गुण-भक्ति-शाखा के प्रवर्तक संत कबीर रामानन्द के शिष्य थे । रामानन्द की शिष्य परम्परा में बारह व्यक्तियों का नामोल्लेख है, जिनमें कबीरदास अग्रगण्य हैं[१] । कबीर ने 'राम' नाम को ग्रहण किया, किन्तु इनके राम का सम्बन्ध अवतारवाद की भावना से नहीं है । उनके 'राम 'दशरथ सुत' न होकर 'निर्गुण निरंजन और निराकार राम' थे । उन्हीं के शब्दों में--'यह नाम निरंजन है, उसका रूप नहीं, रेखा नहीं, समुद्र नहीं, पर्वत नहीं, धरती नहीं, आकाश नहीं, सूर्य नहीं, चन्द्र नहीं, पानी नहीं, पवन नहीं, नाद नहीं, बिन्दु नहीं, पाप नहीं, पुण्य नहीं, जप नहीं, तप नहीं, योग नहीं, ध्यान नहीं, पूजा नहीं, शिव नहीं, शक्ति नहीं, वेद नहीं, व्याकरण नहीं[२] । जब कुछ नहीं है तो भक्ति किसकी की जाय ? वस्तुत: वह 'राम' परम ज्योति स्वरूप है । वह सूर्य नहीं, चन्द्र नहीं-- फिर भी 'चाँद बिहूणां चांदणां' और 'रवि ससि बिना उजास' है । और वह ज्योति भी कुछ ऐसी-वैसी नहीं--'मानो उगी सूरज सैणि' । तात्पर्य यह कि कबीर ने अपने परमज्योति स्वरूप राम-- निराकार ब्रह्म की भक्ति

१- श्री रामानन्द रघुनाथ ज्यों दुतिय सेतु जगतरन कियो ।
अनंतानन्द, कबीर, सुखा, सुरसुरा, पद्मावति, नरहरि ।
पीपा, भावानन्द, रैदासु, धनासेन, सुरसरि की धरहरि ।
औरौ शिष्य प्रशिष्य एक ते एक उजागर ।
विश्वमंगल आधार सर्वानन्द दशधा के आगर ।
बहुत काल वपु धरिके, प्रनत जनन कौं पार दियो ।
श्री रामानन्द रघुनाथ ज्यों दुतिय सेतु जगतरन कियो ।
(भक्तमाल-छप्पय-३१)

२- कबीर ग्रन्थावली-प्रकाशक--नागरी प्रचारिणी सभा, पृ०१६२

को स्वमात्र मानसिक रूप ही दिया है । इसीलिए इनकी भक्ति में केवल श्रवण कीर्तन स्मरण और आत्म-निवेदन हैं,जिनका सम्बन्ध भक्ति के मानसिक पक्ष से है । इन्होंने ब्रह्म को प्रतीकों के माध्यम से गुरु,राजा,पिता,माता,स्वामी,मित्र और पति के रूप में स्वीकार किया है, जिनमें पति या प्रियतम को सर्वोच्च माना है,यथा--

हरि मेरा पीव माई, हरि मेरा पीव ।
हरि बिन रहि न सकै मेरा जीव ।।
हरि मेरा पीव मैं हरि की बहुरिया ।
राम बड़े मैं छुटक लहुरिया ।।[१]

कबीर के अतिरिक्त सैन धना पीपा तथा रैदास आदि ने निर्गुण-भक्ति का प्रचार किया ।

सगुण-भक्ति में राम-भक्ति का स्वरूप

यद्यपि रामानन्द के सभी शिष्यों ने 'राम-नाम' का महामंत्र स्वीकार किया,तथापि उनका दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न था । संत कबीर ने कहा कि --'दशरथ सुत तिहु लोक बखाना,राम नाम का मरम है आना' तो तुलसीदास ने कहा कि --

'जेहि श्रुति गावहिं वेद बुध, जाहि धरहि मुनि ध्यान ।
सोइ दशरथ सुत भगत हित, कोसलपति भगवान ।'[२]

तात्पर्य यह कि सगुण मार्गी ब्रह्म के परात्पर रूप के साथ अवतारवाद भी स्वीकार करते हैं । यद्यपि गोस्वामी तुलसीदास जी यह मानते हैं कि उनके राम परब्रह्म है,निरंजन है,निर्गुण तथा आदि-अंत रहित है,तथापि भक्तों के उद्धार के लिए, दुष्टों के संहार के लिए,तथा धर्म के उत्थान के लिए ही वे इस भूमण्डल पर मानव अवतार लेकर नर-चरित्र किया करते हैं ।

'राम ब्रह्म परमारथ रूपा । अविगत अलख अनादि अनूपा ।।
सकल विकार रहित गत भेदा। कहि नित नेति निरूपहि वेदा ।।
भगत भूमि भूसुर सुरभि, सुरहित लागि कृपाल ।
करत चरित धरि मनुज तनु,सुनत मिटहिं जग जाल।।[३]

१-कबीर ग्रन्थावली,पृ०१२५।,२-रामचरितमानस-बालकाण्ड,१९८।,३-रामचरित मानस-

गोस्वामी जी ने 'सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा' कहकर सगुण तथा निर्गुण में कोई भेद नहीं माना है, तथा--

अगुन अरूप अलख अज जोई । भगत प्रेम बस सगुन सो होई ।।
जो गुन रहित सगुन सोइ कैसें । जल हिम उपल बिलग नहिं जैसें ।।

अर्थात् निर्गुण निराकार ब्रह्म ही भक्तों के प्रेमबस सगुण रूप धारण कर लेते हैं । जिस प्रकार जल और हिम-खण्ड अलग-अलग नहीं हैं, दोनों में जल ही वर्तमान है, उसी प्रकार सगुण और निर्गुण में कोई अन्तर नहीं है । गोस्वामी जी का यह सगुण और निर्गुण का समन्वय-वादी दृष्टिकोण उनकी भक्ति-साधना की सबसे बड़ी विशेषता है ।

तुलसीदास जी के बाद भी राम-भक्ति सम्बन्धी साहित्य का निर्माण होता रहा है । स्वामी अग्रदास, आचार्य केशवदास, कृष्णदास पयहारी, नाभादास, प्रियादास, प्राणचन्द्र चौहान आदि ने साहित्य का सृजन कर राम-भक्ति का प्रचार किया ।

कृष्ण-भक्ति शाखा

श्रीनिम्बार्काचार्य, श्री मध्वाचार्य तथा श्री विष्णु स्वामी ने उपास्य देव के रूप में कृष्ण को स्वीकार किया था, किन्तु उनके रूपों में अन्तर था । मध्वाचार्य के आराध्य कृष्ण सर्वगुण सम्पन्न परमतत्व परमात्मा थे । विष्णु स्वामी ने कृष्ण के गोपाल रूप को स्वीकार किया था । निम्बार्काचार्य ने राधा का महत्व स्वीकार कर अपनी उपासना में राधा-कृष्ण के युगल रूप को अपनाया था । कालान्तर में इसी कृष्णोपासना के माध्यम से वल्लभाचार्य और चैतन्य महाप्रभु ने उत्तरी भारत के भक्ति-आन्दोलन को एक नई दिशा में मोड़ दिया । लगभग उसी समय राधा-कृष्ण की युगल उपासना का एक दूसरा भक्ति-प्रधान सम्प्रदाय प्रचलित हुआ जो 'राधा वल्लभ सम्प्रदाय' के नाम से विख्यात हुआ । एक अन्य सम्प्रदाय भी प्रचलित हो पड़ा, जिसमें राधा-कृष्ण की युगल-उपासना का सखी भाव से प्रचार किया गया, जिसका नाम 'सखी-सम्प्रदाय' पड़ा । इस प्रकार उपर्युक्त चार संप्रदायों

(वल्लभ सम्प्रदाय, चैतन्य सम्प्रदाय, राधावल्लभ सम्प्रदाय और हरिदासी या सखी सम्प्रदाय) के अन्तर्गत भक्त-कवियों ने कृष्ण-भक्ति के विपुल साहित्य का निर्माण किया ।

इस प्रकार यह भक्ति-आन्दोलन दक्षिण में आलवार संतों द्वारा प्रारम्भ होकर नाथमुनि, यामुनाचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य आदि आचार्यों द्वारा प्रवर्तित होकर तथा ज्ञानेश्वर और नामदेव से पोषित होकर उत्तर-भारत में रामानन्द कबीर, सूरदास एवं तुलसीदास से पल्लवित एवं पुष्पित हुआ ।

मध्ययुग में भक्ति-आन्दोलन के इस संक्षिप्त विवरण के उपरान्त इसके कुछ आवश्यक अंगों पर विस्तार से विचार करना समीचीन होगा ।

भक्ति की मौलिक आधार-भूमि

(क) आलवार- संत

तमिलनाड के द्वादश वैष्णव-भक्तों के लिए प्राय: 'आलवार' शब्द का प्रयोग होता है । 'नम्मालवार' की रचनाओं में 'अडियार' अथवा 'भगवर' शब्द ही 'वैष्णव-भक्त' के लिए प्रयुक्त हुआ है । इन वैष्णव-भक्तों के मधुर गीत, जिनकी संख्या ४ हजार है, तमिल ग्रन्थ 'नालायिरदिव्य प्रबन्धम्' में संगृहीत हैं, जिनमें 'आलवार' शब्द का प्रयोग कहीं भी नहीं मिलता । कालान्तर में इसका प्रथम प्रयोग श्री पिल्लान (जो रामानुजाचार्य के सम-सामयिक थे) द्वारा लिखी गई 'प्रबन्धम्' की टीका में प्राप्त होता है ।

तमिल में 'आलवार' शब्द का अर्थ है,'आध्यात्मिक ज्ञान रूपी समुद्र में गोता लगाने वाला व्यक्ति'[१] । इसका दूसरा अर्थ भी है--'शासन करने वाला' (आलदल शासन करना) । यहाँ तात्पर्य ऐसे व्यक्ति से है,जो भक्ति और उसकी तेजस्विता से भगवान को वशीभूत कर लेता हो,क्योंकि भगवान् सच्चे भक्तों के इशारे पर नाचते हैं, किन्तु अब यह शब्द उन बारह वैष्णव-भक्तों के लिए ही रूढ़-सा हो गया है ।

जहाँ तक आलवारों के जीवन-काल का सम्बन्ध है, ऐसा कोई भी प्रामाणिक साक्ष्य आज तक उपलब्ध नहीं हो सका है, जिससे उनका निश्चित समय निर्धारित किया जा सके । सम्प्रदाय में प्रचलित गुरु-परम्परा-ग्रन्थों[२] में आलवारों का समय ईसा से तीसरी-चौथी शताब्दी के पूर्व माना गया है, जो नितान्त भ्रामक ज्ञात होता है,क्योंकि तत्सम्बन्धी कथाएं अलौकिक और अविश्वसनीय हैं । कुछ विद्वान् आलवारों का समय ईसा की चौथी से नवीं

१- ग्रेन्स आफ गोल्ड-- आर०एस० वेंकिन,पृ०६

२- 'दिव्य सूरिचरितम्','गुरु परम्परा प्रभावम्','रामानुजाचार्यदिव्य चरितम्', 'उपदेशरत्नमाला','पेरियतिरुमुडियडैवु','यतीन्द्र प्रवण प्रभावम्', 'प्रपन्नामृत' आदि मुख्य गुरु-परम्परा ग्रन्थ हैं ।

शताब्दी तक निर्धारित करते हैं, जिनमें ये नाम प्रमुख हैं --

डा० कृष्ण स्वामी अय्यंगर[१], श्री टी०ए० गोपीनाथ राव[२], श्री एम० श्रीनिवास अय्यंगार[३], श्री एम० राघव अय्यंगार[४], और श्री वी०आर० रामचन्द्र दीक्षितार[५], ने प्रामाणिक साक्ष्यों के आधार पर इनका जीवन-काल निश्चित करना चाहा, किन्तु परस्पर मतैक्य न होने के कारण आलवारों के आविर्भाव की कोई निश्चित शताब्दी निर्धारित नहीं की जा सकी, क्योंकि इन विद्वानों में से कुछ विद्वान् जहां आलवारों का समय ईसवी पूर्व ४०० निर्धारित करते हैं, वहां दूसरे विद्वान् ईसा की चौथी शताब्दी से ९ वीं शताब्दी तक निश्चित करते हैं, किन्तु सामान्य रूप से उपर्युक्त विद्वानों के तथ्यों के प्रकाश में इनकी जन्मतिथि ईसा की ४,५ वीं शताब्दी निर्धारित की जा सकती है।

रामानुजाचार्य के शिष्य श्री पिल्लान ने अपने 'दिव्य प्रबन्धम्' की टीका में आलवारों का क्रम इस प्रकार रखा है -- 'भूतत्तालवार, पोयगै आलवार, पेयालवार, पेरियालवार, तिरुमलिसई आलवार, कुलशेखरालवार, तिरप्पान आलवार, तोंडरडीपोडी आलवार, तिरुमगै आलवार, मधुरकवि आलवार तथा नम्मालवार[६]'। आंडाल का उल्लेख न होने के कारण इस क्रम में केवल ११ नाम आते हैं।

श्रीरामानुजाचार्य के दूसरे शिष्य श्री रंगमवासी अमुदन ने इन आलवारों का एक दूसरा क्रम निर्धारित किया है, जिसमें मधुर कवि आलवार का नाम नहीं है। इन सूचियों के तुलनात्मक अध्ययनोपरान्त कुछ विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि यह क्रमों की भिन्नता तथा संख्या में कमी आलवर विशेष की रचना की पर्याप्त उपलब्धि न

१-

२-

३-

४- आलवारकल कालनिलै (तमिल)

५-

६-

होने के कारण हो अथवा विद्वान् लेखक को किसी आलवर-विशेष की रचना ही प्राप्त न हुई हो ।

डा० आर०जी० मण्डारकर के अनुसार आलवारों के क्रम एवं संख्या का प्रामाणिक रेखा-चित्र इस प्रकार है :--

रेखा-चित्र

आलवार
- १- पोयगै आलवार
- २- भूततालवार
- ३- पेयालवार
- ४- तिरुमलिसई आलवार
- ५- नम्मालवार
- ६- मधुर कवि आलवार
- ७- कुलशेखरालवार
- ८- पेरियालवार
- ९- आंडाल
- १०- तोंडरडीपोडी आलवार
- ११- तिरुप्पाण आलवार
- १२- तिरुमंगै आलवार

अब प्रत्येक का विवरण अलग-अलग नीचे दिया जाता है :-

१- पोयगै आलवार (सरोयोगी)

लगभग एक ही समय में अर्थात् ईसा की छठीं शताब्दी के लगभग प्रथम तीन आलवारों का आविर्भाव निर्धारित किया जाता है । इन आलवारों को 'मुदलालवार' संज्ञा से अभिहित किया जाता है, जिनमें 'पोयगै आलवार' सर्व प्रथम है । जनश्रुति है कि इनका जन्म कांचीपुरम के एक सरोवर में कमल-पुष्प से हुआ था । ये छठीं शताब्दी में पैदा हुए थे ।

१-

पोयगै आलवार पर,उनके जीवन के प्रारम्भिक काल में ही 'भक्ति' की अमिट छाप पड़ी जो सदा के लिए स्थायी रही,परिणामस्वरूप बाल्य-काल में ही ये विष्णु के अनन्य भक्त हो गए । एक पद में इन्होंने लिखा भी है --' मेरा मुंह केवल उस चक्रधारी विष्णु की ही स्तुति करेगा । मेरे कान केवल उन्हीं की गुण-गाथाओं को सुनेंगे और किसी की नहीं ।'[1] ये वेदोपनिषदों के प्रकाण्ड विद्वान् थे, साथ ही योगशास्त्र विशेषज्ञ भी थे[2]। पर्यटन ही इनका कार्य तथा वैष्णव-भक्ति-प्रचार ही जीवन-लक्ष्य था ।

'मुदल-तिरुवंतादि' इनकी एक प्रमुख रचना है, जिनमें लगभग सौ पदों का संग्रह है । कुछ पदों में विष्णु के विभिन्न अवतारों का उल्लेख है । अधिकांश पद भक्ति तथा उपदेशपरक हैं ।

२- पुतत्तालवार (भूत योगी)

इनका जन्म 'तिरुकडल मल्लै' में माधवी-पुष्प से हुआ था । इन्हें विष्णु की गदा का अवतार माना जाता है । विद्वान् इन्हें प्राय: पोयगै आलवार का समकालीन मानते हैं । प्रामाणिक साक्ष्यों के आधार पर इनका समय पांचवीं शताब्दी के अन्तिम काल में स्वीकार किया जा सकता है ।

ये संत स्वभाव के थे । वेद-उपनिषदों का भी इन्हें ज्ञान था। पोयगै आलवार की भांति इन्होंने स्थान-स्थान पर भ्रमण कर भक्ति का प्रचार किया ।

इन्होंने कुछ स्फुट पदों की रचनाएं भी की हैं ।'इरंटाम तिरुवंतादि' में इनके सौ पद संगृहीत हैं । ये पद विष्णु-भक्तिपरक हैं । इनका प्रथम पद इस प्रकार है --' प्रेम के दीपक में अभिलाषा का घृत डाल, स्निग्ध

१- मुदल तिरुवंतादि, पद ११ ।

२- मुवर इरट्टिय मौली विलक्कु -- श्री पी०श्री आचार्य,पृ० ३६

हृदय की बाती लगाकर, स्नेह द्रवित आत्मा के साथ मैंने नारायण के सम्मुख ज्ञान का दीप जलाया ।'

३- पेयालवार (महायोगी)

पेयालवार का जन्म मद्रास के अन्तर्गत 'मैलापुर' नामक ग्राममें ऐसी जनश्रुति है कि लाल कमल से हुआ था । ये विष्णु के खड्ग के अवतार माने जाते हैं । इनके जीवन-काल के विषय में कुछ निश्चित साक्ष्य प्राप्त नहीं होते, तथापि इन्हें पोयगै आलवार तथा भूतत्तालवार का समकालीन माना जाता है । ये भी भ्रमण कर वैष्णव-भक्ति का प्रचार किया करते थे ।

'मूंट्राम तिरुवंतादि' में इनके सौ पदों का संकलन है, जो 'प्रबन्धम्' में संगृहीत है । इन पदों से इनके परम वैष्णव भक्त होने का परिचय प्राप्त होता है । इन्होंने विष्णु के विभिन्न अवतारों का उल्लेख किया है । साथ ही विष्णु की सर्वव्यापकता भी इनके द्वारा स्वीकार की गई है[१] ।

पोयगै आलवार, भूतत्तालवार और पेयालवार-- ये तीनों पुष्प-पुत्र ज्ञान, वैराग्य और भक्ति के अवतार कहे गए हैं । भक्ति-प्रचार ही इनका मुख्य लक्ष्य था । ये तीनों आलवार समकालीन थे तथा परस्पर पूर्व परिचित नहीं थे । इनके विषय में एक घटना प्रसिद्ध है -- एक दिन पोयगै आलवार भक्ति प्रचार करते हुए 'तिरुक्कोइलूर' नामक ग्राम में पहुंचे । सायंकाल का समय था, प्रगाढान्धकार छाया हुआ था, मूसलाधार पानी बरस रहा था । वर्षा से बचने के लिए पोयगै आलवार एक कुटिया के बरामदे में पहुंचे, जगह मिल गई, विश्राम करने लगे । थोड़ी देर बाद भूतत्तालवार भटकते हुए आ पहुंचे तथा उनसे पूछा कि क्या यहां थोड़ी सी जगह मिल सकती है ? पोयगै आलवार उठकर बैठ गए तथा यह कहकर कि यहां एक आदमी के लेटने की तथा दो आदमियों के बैठने की जगह है, उन्हें भी बैठने को

१- 'मूंट्राम तिरुवन्तादि', पद ८६

जगह दी । तदनन्तर पेयालवार भीगते हुए आ पहुंचे और थोड़ी-सी जगह मांगी । यह कहकर कि यहां एक आदमी लेट सकता है, दो आदमी बैठ सकते हैं तथा तीन आदमी खड़े रह सकते हैं-- उन्हें भी जगह दी गई और तीनों खड़े हो गए । अंधकार इतना था कि एक-दूसरे का चेहरा तक भी नहीं दिखाई पड़ रहा था, फिर वे एक-दूसरे से अपरिचित भी । इसी बीच उनके मध्य में एक चौथा व्यक्ति दिखलाई पड़ा । ये चौथे व्यक्ति स्वयं भगवान थे । भगवान ने प्रसन्न होकर वरदान मांगने को कहा तो तीनों भक्तों ने उनकी निरन्तर-भक्ति का ही वरदान मांगा । परिणामत: आनन्द मग्न उन तीनों के मुख से कविता फूट निकली तथा तीनों ने भक्ति-परक सौ-सौ पद गाए तथा भक्ति का प्रचार किया ।[१]

४- तिरुमलिसई आलवार(भक्ति सार)

तमिलनाड में स्थित 'तिरुमलिसई' (महीसपुर) नामक ग्राम में जन्म लेने के कारण इनका नाम तिरुमलिसई पड़ा । इन्हें विष्णु के चक्र का अवतार माना जाता है । इनके पिता का नाम भार्गव ऋषि था तथा माता कनकांगी नामक अप्सरा थीं । माता के द्वारा किसी लता-कुंज में फेंक दिये जाने पर 'तिरुवालन' नामक व्याधदम्पति ने नवजात-शिशु का पालन-पोषण किया । इनका जीवन-काल छठीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध तथा ७ वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है ।

बाल्य-काल में ही तिरुमलिसई सभी धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन कर शास्त्र पारंगत हो गए । इनकी ख्याति एक विद्वान् होने के साथ ही साथ एक भक्त के रूप में भी चतुर्दिक फैली । जीवन के प्रारम्भिक दिनों में ये कट्टर शैव थे ।[२] इसके उपरान्त उन्होंने शैव धर्म पर कुछ ग्रन्थों की रचना कर इस धर्म का प्रचार किया[३]

१-इस घटना की पुष्टि पोयगै आलवार के 'मुदलतिरुवंतादि', पद ८६से होती है ।
२-श्री एम०राघव अय्यंगार-- आलवारकल कालनिले, पृ०३६
३-

किन्तु पेयालवार द्वारा शास्त्रीय वाद-विवाद में पराजित हो जाने के कारण इन्होंने वैष्णव-धर्म स्वीकार कर लिया। वैष्णव-सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धांतों का स्रोत, इनकी रचनाएं हैं। ये सांख्य, न्याय, वैशेषिक एवं पतंजलि के योग दर्शन के भी ज्ञाता थे।

इनकी वैष्णव-भक्ति-परक दो रचनाएं -- 'नान्मुखन-तिरुवन्तादि' तथा 'तिरुचन्दविरुत्तम', 'प्रबन्धम' में संगृहीत हैं। इनके अतिरिक्त भी उनकी कुछ रचनाएं और भी कही जाती हैं, किन्तु वे अप्राप्य हैं। नान्मुखन तिरुवन्तादि में १०० पद हैं। इसमें विष्णु के विभिन्न अवतारों, संसार की सारहीनता तथा प्रकृति की सुन्दर छटा का वर्णन है। 'तिरुचन्द-विरुत्तम' में १२० पद हैं। इसमें वेद-उपनिषदों का सार एवं दर्शन के गूढ़ तत्वों का विवेचन है। नायक-नायिका के विरह-मिलन के माध्यम से भगवान एवं भक्त के मिलन की कल्पना की गई है। इस विरह-वर्णन का आलवार साहित्य में प्रथम प्रयोग, इनकी महत्वपूर्ण विशेषता है।

५- नम्मालवार(शठकोप)

इनका जन्म ताम्रपर्णी नदी के किनारे पर स्थित तिरुकुरुहूर नामक ग्राम में हुआ था। इन्हें विष्वक्सेन का अवतार माना जाता है। इनके जीवन-काल का अनुमान ५वीं शताब्दी से ९ वीं शताब्दी के बीच लगाया जाता है। वेलवीकुडी दान पत्र के आधार पर उनका समय ७वीं शताब्दी में निर्धारित किया जा सकता है।

नम्मालवार के पिता 'करिमारन' तथा माता 'उदयनंगै' बालक के पैदा होने पर उसके ११ दिनों तक न रोने पर, आंखें न खोलने पर तथा माता का दुध न पीने पर-- इन विचित्र लक्षणों से घबड़ाकर किली इमली के वृक्ष की कोटर में डाल आए, जहां ये १६ वर्ष तक योग-मुद्रा में पड़े रहे।

जिस समय मधुर कवि आलवार तीर्थ-यात्रा करते हुए बदरिकाश्रम से अयोध्या की ओर आ रहे थे, उस समय उन्होंने दक्षिण में एक उज्ज्वल प्रकाश देखा। रहस्य समझने की इच्छा से हजारों मील दूर, दक्षिण की ओर उस ज्योति-स्तम्भ की दिशा में चल पड़े। जब इमली के वृक्ष के पास पहुंचे तो देखा कि यह ज्योति इसी कोटर में योग-मुद्रा में स्थित नम्मालवार के मुख से ही निकल रही है। उनकी योग-मुद्रा भंग करने तथा उनका दर्शन करने की इच्छा से मधुर कवि ने एक प्रस्तर खण्ड उठाकर पटक दिया, जिसकी आवाज़ सुनकर `नम्मालवार` ने आँखें खोल दीं, किन्तु फिर भी चुप रहे। तब मधुर कवि ने प्रश्न किया कि `यदि सत् पदार्थ (सूक्ष्म चेतन शक्ति) असत्(जड़ प्रकृति) के अन्दर प्रवृष्ट हो जाता है, तो वह क्या खायेगा और कहां विश्राम करेगा ?` उत्तर मिला -- `वह उसी का आहार करेगा तथा वहीं पर विश्राम भी करेगा।` इस सूक्ष्म उत्तर का आशय समझकर मधुर कवि इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने नम्मालवार का शिष्यत्व ग्रहण किया। नम्मालवार अपनी तपस्या के परिणाम-स्वरूप ही ईश्वर का दर्शन कर, ३५ वर्ष की ही अवस्था में स्वर्ग-लोकवासी हुए।

इनकी रचनाओं के निम्न चार संग्रह --`दिव्य प्रबन्धम्` में प्राप्त होते हैं[१]। १-तिरुविरुत्तम, २- तिरुवाचिरियम, ३- पेरियतिरुवन्तादि तथा ४- तिरुवायमोली। `तिरुविरुत्तम` और `तिरुवायमोली` में प्रेमी और प्रेमिका के बीच होने वाले संयोग और वियोग के शृंगार भाव का सरस वर्णन है। उन्होंने परमात्मा को नायक (प्रियतम) मानकर तथा स्वयं नायिका (प्रियतमा) बनकर मिलन और विरह का मर्मस्पर्शी चित्र खींचा है। तिरुवाचि-रियम में ७ पद हैं, जिन्हें यजुर्वेद का सार तथा `पेरियतिरुवन्तादि` के ८७ पदों को अथर्ववेद का सार कहा जाता है। सभी पद भक्ति तथा उपदेशपरक हैं।

१- श्री राधाकृष्ण पिल्ले-- द्राविड़ मुनिवरकल, पृ० ६६

६- मधुर कवि आलवार

नम्मालवार के साथ ही मधुर कवि का जीवन एकसूत्र में गुंथा हुआ है। जिस प्रकार लता वृक्ष का आश्रय प्राप्त कर पल्लवित-पुष्पित होती है, उसी प्रकार नम्मालवार का आश्रय प्राप्त कर उन्हीं की छत्र-छाया में मधुर कवि का विकास हुआ।

मधुर कवि आलवार का जन्म 'तिरुकोइलूर' नामक ग्राम में एक 'ऋग्-शिखी' ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इन्हें 'गरुड़' का अवतार माना जाता है, जो विष्णु का वाहन है। बाल्यकाल में ही इन्होंने वेदों तथा अन्य शास्त्रों का अध्ययन कर डाला था। वे तमिल तथा संस्कृत, दोनों भाषाओं के प्रकाण्ड विद्वान् थे। गुरु के पदों का प्रचार करना ही इनके जीवन का मुख्य लक्ष्य था। गुरु नम्मालवार को इन्होंने ईश्वर की भाँति स्वीकार किया तथा उन्हें 'देव-कवि' कहकर पुकारा।

मधुर कवि अपने गुरु 'नम्मालवार' से १२१ वर्ष बड़े थे। ३५ वर्ष की अवस्था में ही गुरु के गोलोकवासी हो जाने के पश्चात् १५ वर्ष तक जीवित रहे। इस प्रकार गुरु का स्मरण करते हुए ९७१ वर्ष की अवस्था में इहलोक लीला समाप्त की।

इनकी रचना केवल 'कण्णिनुल चिरुताँबु' ही उपलब्ध है, जो 'दिव्य प्रबन्धम्' में संगृहीत है। यह ११ पदों का संग्रह है, जिसमें गुरु-महिमा ही वर्णित है।

७- कुलशेखरालवार

कुलशेखरालवार केरल के राजा थे। गुरु परम्परा-ग्रन्थों के अनुसार कुलशेखरालवार को विष्णु के वक्षस्थल पर सुशोभित मणि का अवतार माना जाता है। इनके जीवन-काल के विषय में विद्वान् मतैक्य नहीं हैं।

शिलालेखों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ये ८वीं शताब्दी में जीवित थे।[1] यद्यपि ये राजा थे तथापि राज्य-भार त्याग कर भगवद्-भक्ति में ही सदैव लीन रहा करते थे। ये भक्त होने के साथ ही साथ उच्चकोटि के ज्ञानी तथा विरक्त भी थे। इनकी भक्ति के सम्बन्ध में यह किम्बदन्ती है कि एक बार जब ये रामायण की कथा सुन रहे थे, तब खरदूषणों के साथ राम के अकेले युद्ध करने का प्रसंग[2] सुनते ही, इन्होंने राम की सहायता के लिए, राक्षसों से युद्ध करने के लिए अपनी सेना को आदेश दे दिया। व्यास जी के आश्वासन देने पर कि अकेले राम ने ही राक्षसों का वध कर डाला है, तब इन्होंने अपनी सेना को वापस लौटने की आज्ञा दी। इससे स्पष्ट है कि इनके हृदय में भक्ति का भाव कूट-कूट कर भरा हुआ था।

इनकी दो रचनाएं प्राप्त होती हैं-- एक 'पेरुमाल तिरमोली' तमिल-रचना है। इसमें १०५ पद हैं, जो 'दिव्य-प्रबन्धम्' में संगृहीत हैं तथा दूसरी संस्कृत-रचना 'मुकुन्दमाला' ४० श्लोकों का संग्रह है।[3] इन पदों में भगवान विष्णु की भक्ति, बाल-गोपाल की शिशु लीला तथा राम्वन गमन एवं दशरथ-विलाप का वर्णन है।

८- पेरियालवार (विष्णु-चित्त)

पेरियालवार एक ब्राह्मण[3] कुल में, पांडिय राज्य के 'श्री विल्लिपुत्तूर' ग्राम में पैदा हुए थे। उनके पिता का नाम मुकुन्दाचार्य तथा माता का नाम पद्मा था। अधिकांश विद्वान् इनका समय ८वीं शताब्दी में

१- आलवारकल कालनिले-- श्री राघव आयंगार, पृ० १६१

२- चतुर्दशसहस्राणि रक्षसां भीमकर्मणाम्।
एकश्च रामो धर्मात्मा कथं युद्धं भविष्यति ।। (बाल्मीकि रामायण ३-२४-२३)

३- श्री के० राम विशारठी, प्रकाशक-अन्नमले विश्वविद्यालय-- श्रीमुकुन्दमाला (भूमिका भाग)

मानते हैं।[1] इनके बचपन का नाम 'विष्णु-चित्त' था। बचपन से ही विष्णु-चित्त का चित्त विष्णु की उपासना में रम गया था।

श्री विल्लिपुत्तूर के वटपत्रशायी भगवान् की अनन्य भक्ति में लीन होकर पेरियालवार ने मधुररससिक्त सैकड़ों पद गाए, जो 'तिरुपल्लांडु' तथा 'पेरियालवार तिरुमोली' नामक दो संग्रहों में प्राप्त होते हैं। ये ग्रन्थ वात्सल्य रस के अद्भुत स्रोत हैं। इसमें श्रीकृष्ण के रोने, हंसने, लोटने, मचलने, किलकने आदि का हृदयग्राही चित्रण प्रस्तुत किया गया है। कृष्ण का जन्मोत्सव, गोकुल में रासलीला, कृष्ण का चन्दामामा को बुलाना, कर्ण-वेध-संस्कार, माखनचोरी, गोपियों की यशोदा से शिकायतें, कृष्ण के सौन्दर्य पर गोपियों का मोहित होना तथा मुरली-माधुरी आदि का वर्णन बड़ी सरस शैली में वर्णित है।

९- आंडाल (गोदा)

आंडाल, पेरियालवार की पोष्य-पुत्री थी। इनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में कहा जाता है कि एक दिन जब पेरियालवार वाटिका में पुष्प-चयन कर रहे थे, उसी समय तुलसी-दलों के बीच एक नवजात बालिका दृष्टिगोचर हुई। उन्होंने घर ले जाकर उसका पालन-पोषण किया तथा 'कोदै'[2] नाम रखा। 'कोदै' का अर्थ है --'फूलों के हार के समान कमनीय।' आंडाल अनुपम सुन्दरी तथा प्रेम की साकार मूर्ति थी। वह पूजा और भजन में पेरियालवार की सहायता करती थी। नन्दनवन में जाकर वह फूल तोड़ लाती तथा मालाएं गूंथा करती थीं। आंडाल के निरीह प्रेम के विषय में एक रोचक कथा है कि भगवत्-प्रेम में वह इस तरह तन्मय हो जाती थीं कि भगवान के लिए

१- आलवारकल काकनिले-- श्री एम०राघव आयंगार, पृ० ६६

२- 'कोदै' ही 'गोदा' का शुद्ध रूप है। इस शब्द के अनेक अर्थ हैं। 'दिव्य-सूरि चरितम्' नामक गुरु-परम्परा ग्रन्थ में 'कोदै' या 'गोदा' का अर्थ 'वाक् शक्तिदायिनी' किया गया है।

बनी मालाओं को स्वयं पहन कर दर्पण में अपना सौन्दर्य इसलिए देखा करती थीं कि वह अपने प्रियतम् (भगवान्) को आकृष्ट कर सकेंगी या नहीं। एक बार पहनी हुई माला को भगवान् पर चढ़ाए जाने की सूचना पेरियालवार को मिल ही गई, फलस्वरूप पुत्री के इस दुर्व्यवहार पर क्रुद्ध होकर पिता ने एक नई माला तैयार कर भगवान् कने- पर चढ़ाई। आंडाल के शुद्ध प्रेम को भगवान् ठुकरा न सके तथा स्वप्न में उन्हें (पेरियालवार को) उपदेश दिया कि मैं वही माला पहनना चाहता हूं, जिसे आंडाल ने एक बार पहनी हो। तभी से आंडाल का नाम 'चूडिकोडुत्त नाच्चियार' (अर्थात् पहनी हुई माला अर्पित करने वाली) पड़ा।[१]

जैसे-जैसे आंडाल का यौवन निखरता गया, और पूर्ण यौवन को प्राप्त हो विवाह योग्य हो गई, वैसे-वैसे योग्य वर न मिलने पर पिता की चिन्ता बढ़ती गई। यह देख, आंडाल ने कहा -- 'मैंने श्री रंगम् के भगवान् को ही अपने पति के रूप में वरण कर लिया है।'[२] भगवान् ने भी उसी दिन पेरियालवार को स्वप्न में आदेश दिया -- ' मैं प्रियतमा आंडाल का पाणिग्रहण करूंगा '। दूसरे दिन श्री रंगनाथ के मन्दिर में आंडाल को भगवान् को समर्पित किया गया। आंडाल (भगवान् के प्रति प्रगाढ़ प्रेम वाली) शब्द ही इस घटना की सूचना देता है।

आंडाल एक महान् वैष्णव-संत-कवयित्री थीं। इनकी दो रचनायें-- १-तिरुप्पावै तथा २- नाच्चियारतिरुमोली, 'दिव्य-प्रबन्धम्' में संगृहीत हैं।

१- 'नाळोयिर दिव्य प्रबन्धम्' --संपादक-एस०कृष्णमाचारियर: आंडाल वैभवम् पृ० ६६।

२- 'नाच्चियार तिरुमोली' -- पद १ : ५

१०- तोंडरडीपोडी आलवार(भक्तांघ्रिरेणु)

ये 'तिरुमंडनकुडी' नामक ग्राम में एक ब्राह्मण परिवार में पैदा हुए थे। इनका बचपन का नाम विप्रनारायण तथा भक्तांघ्रिरेणु था। निष्ठापूर्वक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए ये श्री रंगम् के निकटवर्ती ग्राम में तुलसी का बगीचा बनाकर रहने लगे, तथा सन्यासी-जीवन व्यतीत करने लगे।

इनके जन्म-काल के विषय में विद्वान् निश्चित निष्कर्ष पर नहीं पहुंच सके हैं तथापि प्रामाणिक साक्ष्यों के आधार पर इनका समय ८ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में माना जा सकता है[१]। कुछ विद्वान् इन्हें तिरुत्पाण आलवार तथा तिरुमंगै आलवार का समकालीन मानते हैं[२]।

किसी दिन देवदेवी नामक अत्यन्त लावण्यमयी वेश्या ने अपनी बहिन के साथ उस बगीचे में पहुंच कर, तेजस्वी नवयुवक पर मुग्ध होकर उन्हें मोह-जाल में फंसाना चाहा और वह नत-मस्तक हो बोली कि मैं इस गांव की वेश्या हूं। वेश्या-वृत्ति से ऊबकर जीवन-उद्धारार्थ आपकी शरण में आई हूं। कृपा करके श्री रंगनाथ की सेवा करने की मुझे भी अनुमति दें। सन्यासी ने स्वीकार कर लिया। कालान्तर में एक दिन जब कि घनघोर वृष्टि हो रही थी, तोंडरडीपोडी को भीगे वदन फूल चुनते हुए देख, दयार्द्र हो सन्यासी ने अपनी कुटिया में बुला लिया। अनुकूल अवसर पाकर रूपवती देवदेवी ने सन्यासी से अपना शरीर स्वीकार करने की याचना की। देवदेवी पर मुग्ध हो, सन्यासी ने उसकी विनय स्वीकार कर ली। भगवान् की रूप-सुधा से उनका मन विमुख होकर नारी-प्रेम में केन्द्रित हो गया। कुछ समय के बाद देवदेवी, सन्यासी के प्रेम से विमुख होकर अन्यत्र चली गई। इतना ही नहीं, इसी वेश्या

१- श्री स्वामी चिदम्बरनार -- आलवारकल अरुलमोली, पृ० ७५

२-

के कारण राजमहल से सोने की थाली चुराने के अपराध में विप्रनारायण को जेल भी जाना पड़ा, किन्तु श्री रंगनाथ की कृपा से उन्हें जेल से मुक्ति मिली। इस प्रकार दो जेलों[1] से छुटकारा पाकर तोंडरडीपोडी ने पुनः भगवान् की भक्ति में तन-मन लगाया।

इनकी रचनाओं में 'तिरुमालै' तथा 'तिरुपल्ली-एलुच्ची' दो संग्रह उपलब्ध हैं। ये पद भक्ति परक हैं।

११- तिरुप्पाण आलवार (योगी वाहन)

इन्हें 'मुनिवाहन' अथवा 'पाण पेरुमाल' भी कहा जाता है[2]। ये 'उरैयूर' नामक ग्राम में पैदा हुए थे। अछूत होने के कारण और श्री रंगनाथ के दर्शन से वंचित रहने के कारण ये कावेरी नदी के तट पर एक कुटिया बनाकर भगवान् की भक्ति में विह्वल होकर मधुर-गान गाया करते थे। गुरु-परम्परा-ग्रन्थों के अनुसार ये 'भगवद्गान-विषय-सार्वभौम' नामक उपाधि से अलंकृत थे। अधिकांश विद्वान् इन्हें तोंडरडीपोडी का समकालीन मानकर इनका जन्म-काल ८वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध तथा ९ वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध मानते हैं।

एक बार एक विचित्र घटना घटी। 'लोक सारंग' नामक एक ब्राह्मण पुजारी श्री रंगनाथ की मूर्ति-अभिषेक के लिए सुवर्ण-कलश में कावेरी नदी का पवित्र जल ले जा रहा था। मार्ग में 'तिरुप्पाण आलवार' भगवद् भजन में तल्लीन थे। उन्होंने तिरुप्पाण को निम्न जाति का होने के कारण अपवित्र समझकर मार्ग से दूर हटने को कहा। ध्यानमग्न तिरुप्पाण के न हटने पर उन्होंने उनके शिर पर एक प्रस्तर-खण्ड फेंक दिया, जिससे रक्त-धारा प्रवाहित हो चली। ध्यान मग्न तिरुप्पाण जाग उठे तथा अपना

१- कारावास तथा वेश्या-प्रेम-पाश।

२- श्री राघाकृष्ण पिल्लै-- द्राविड़ मुनिवरगल, पृ० ३८

अपराध स्वीकार कर क्षमा-याचना की । उसी दिन रात्रि में श्री रंगनाथ ने स्वप्न में प्रकट होकर आदेश दिया--"तुम्हारा फेंका हुआ पत्थर तिरुप्पाण के शिर पर नहीं,वरन् मेरे शिर पर लगा है, उन्हें अछूत मत समझो, वे मेरे श्रेष्ठ भक्त , मित्र तथा दास हैं । उन्हें अपने कन्धों पर बिठाकर मेरे सम्मुख लाओ, यही तुम्हारे पाप का प्रायश्चित है ।" दूसरे दिन लोक सारंग ने ऐसा ही किया । भगवान् का दर्शन कर तिरुप्पाण आनन्द-मग्न होकर पुनः गीत गाने में मग्न हो गए ।

इनकी रचनाएँ अमलनादिपिरान' है, जिसमें श्री रंगनाथ के सौन्दर्य का नख-शिख वर्णन है । इस ग्रन्थ का विशेष धार्मिक महत्व है ।

१२- तिरुमंगै आलवार(परकाल)

जंगलों,पहाड़ों में लूटमार कर जीविका चलाने वाले 'कल्लर' नामक व्याध-जाति में इनका जन्म हुआ था । इनका प्रारम्भिक नाम नीलन् था ये 'तिरुकुरैयलूर' ग्राम में पैदा हुए थे । शिलालेखों के आधार पर इनका जन्म ८ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में माना जाता है । इनके पिता चोल राजा के यहाँ सेनापति थे । तिरुमंगै आलवार भी युद्ध-विद्या में निपुण थे, अतः पिता की मृत्यु के पश्चात् ये सेनापति बना दिए गए । इनके पास रूप था, यौवन था और थी अतुल सम्पत्ति भी । तिरुमंगै रसिक थे तथा इन्द्रिय सुख के पक्षपाती थे ।

'तिरुवेल्लुकम' नामक ग्राम में एक वैष्णव-वैश्य की अत्यन्त लावण्यमयी कन्या थी,जिसका नाम 'कुमुदवल्ली' था । रूपवती कुमुदवल्ली के विवाह की दो शर्तों को स्वीकार करने पर तिरुमंगै के साथ

१-

उसका पाणिग्रहण हो सका । पहली शर्त थी कि तिरुमंगे को वैष्णव-भक्त बनना चाहिए तथा दूसरी शर्त थी कि प्रतिदिन १००८ वैष्णव-भक्तों को भोजन कराकर ही वह स्वयं भोजन करें । इस प्रकार शर्त को पूर्ण करने के लिए प्रतिदिन १००८ भक्तों के भोजन का क्रम चलता रहा । कालान्तर में न केवल उनकी सम्पूर्ण सम्पत्ति, वरन् राजकोष का धन भी समाप्त हो गया, फलस्वरूप राजकोष का धन हड़पने के अपराध में इन्हें जेल भी जाना पड़ा । इसी बीच दैवी-प्रेरणा से तिरुमंगे को कांचीपुरम् में गड़ी हुई धनराशि का पता चल गया, जिसे देकर ये बन्दी-गृह से मुक्त हुए किन्तु स्वीकृत शर्त का पालन करने के लिए लूटमार शुरू करनी पड़ी । किसी दिन तिरुमंगे के उद्धार के लिए भी भगवान्(विष्णु) ने ब्राह्मण-यात्री के रूप में प्रकट होकर वेद-सार-रूपी अष्टाक्षर मन्त्र का उपदेश दिया । तभी से तिरुमंगे में महान परिवर्तन आ गया था उनमें भगवद्-भक्ति का भाव जागृत हो उठा ।

वह युग धार्मिक संघर्ष का था । जैन और बौद्ध धर्म के झुकते अस्तित्व के बीच शैव धर्म जोर पकड़ रहा था । इसी बीच तिरुमंगे ने घूम-घूम कर वैष्णव-भक्ति का प्रचार किया । ये कन्याकुमारी से लेकर बद्रिकाश्रम तक के वैष्णव केन्द्रों में पहुंचकर भक्तिपरक उपदेश देते रहे । इनकी रचनाएं 'दिव्य-प्रबन्धम्' में संगृहीत हैं, जो निम्न हैं । १- पेरियतिरुमोली, २- तिरुकुरुन्ताण्डकम्, ३- तिरुनेडुन्ताण्डकम्, ४- तिरुवेलुकूतिरुक्के,५-चिरिय तिरुमडल,६- पेरिय तिरुमडल । ये सभी कृतियां भक्तिपरक ही हैं । कुछ गीतों में आत्म-निवेदन के भाव हैं तथा कुछ गीतों में नायिका की विरह-वेदना नायक से मिलने की आतुरता, मेघ,कोकिल तथा भ्रमर आदि द्वारा सन्देश भेजने का वर्णन है ।

इन आलवारों के जीवन-दर्शन से यह प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में लगभग सभी आचार्य जीवन की अत्यन्त असुविधाजनक परिस्थितियों में थे तथा विषय-वासनाओं में लीन होकर संसार के सामान्य व्यक्ति थे। किसी

दैवी घटना से इनके जीवन में महान् परिवर्तन हुआ और वे न केवल ईश्वर की भक्ति के प्रति आकृष्ट हुए, वरन् अनेक प्रकार से भक्तिपरक रचनाओं के गायक होकर कवि भी हुए । इनकी कविता इतनी अधिक शास्त्र-परक नहीं थी, जितनी अनुभूति परक । और वे अपनी अनुभूति में ऐसी महत्त्वपूर्ण सूक्तियां दे सके जो भक्ति के तात्त्विक स्वरूप को स्पष्ट कर सके ।

(ख) आचार्यों का कार्य

भारतीय संस्कृति के विकास के इतिहास में श्री शंकराचार्य का अवतार एक युग-परिवर्तनकारी घटना है। उस समय का धार्मिक जीवन बहुत अस्त-व्यस्त हो गया था। शक्तिशाली बौद्धमत की परम्परा में पनपने वाले वज्रयान, सहजयान जैसे वाममार्गी सम्प्रदायों की साधना लोक-जीवन को पथभ्रष्ट कर विकृत उपासना-मार्गों की ओर ले जा रही थी। परम्परागत दोषों से जर्जरित होकर वैदिक धर्म तेजहीन हो गया था। ऐसे समय में आचार्य शंकर ने एक ओर प्राचीन औपनिषदिक धर्म की पुनः स्थापना की और दूसरी ओर वेदविरोधी विचार-धारा के नाम पर पनपने वाले कुतर्कमूलक आवेश को रोककर प्रबल आध्यात्मिक दर्शन का प्रतिपादन किया। बौद्ध एवं जैन सिद्धान्तों का खण्डन कर उन्होंने अपनी अद्भुत प्रतिभा के बल पर नये सिद्धान्तों की स्थापना की।

शंकराचार्य ने दार्शनिक सिद्धान्त 'अद्वैतवाद' का प्रतिपादन किया। किन्तु उन्होंने ब्रह्म की इस अद्वैतता को उस अमूर्त स्थिति तक पहुंचा दिया, जिससे भक्ति का विकास अवरुद्ध-सा होने लगा, लेकिन शंकर का मार्ग इतना दुरूह था कि सामान्य जन-मानस इस अद्वैत में भक्ति के लिए पूर्णतः अवलम्ब नहीं पा सकता था। किन्तु अनुकूल वातावरण पाकर शैव और वैष्णव-भक्तों की प्रेममूलक भक्ति-भावना की पावन-सरिता शंकराचार्य के मायावादी प्रस्तरखण्ड को भेदकर निर्झरिणी की भाँति अबाध गति से प्रवाहित हुई। ऐसे विद्वानों को जो तमिल तथा संस्कृत के विद्वान् थे--'आचार्य' कहा गया। इन आचार्यों ने वैष्णव-सन्तों की वाणी का संकलन कर मन्दिरों में उनके अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था की तथा 'प्रस्थानत्रयी' पर भाष्य लिखे और शंकर के मायावाद का खण्डन किया। इन आचार्यों ने प्रमुखरूप से तीन बातों पर बल दिया -- सर्वप्रथम इन्होंने वैदिक धर्म के महत्व को बढ़ाया, दूसरे अवैदिक सम्प्रदायों का पूर्णतः बहिष्कार किया तथा प्रपत्ति और शरणागति वाली भक्ति का प्रचार किया।

इन आचार्यों में सर्वप्रथम आचार्य 'नाथ मुनि' माने जाते हैं। नाथमुनि जिनका समय ९ वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध तथा १० वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है,[1] इन्होंने आलवारों के पदों को वेदों का-सा महत्व देकर श्रीरंगम में उनके गाए जाने की व्यवस्था की। इन्होंने भक्ति के लिए जाति-पाँति का का बन्धन तोड़कर ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल तक को भक्त बनने का अधिकारी बतलाया। इन्होंने कर्म एवं भक्ति, लोक तथा वेद, दोनों में सामंजस्य स्थापित किया। इनकी तीन रचनाएं--'न्याय तत्व', 'पुरुष निर्णय' तथा 'योग-रहस्य' उपलब्ध हैं। जिनमें न्यायतत्व का विशेष महत्व है, जो विशिष्टाद्वैतवादी सिद्धान्तों का प्रथम ग्रन्थ माना जाता है[2]। इसमें विशिष्टाद्वैतवाद के सिद्धान्त का दार्शनिक विवेचन है।

नाथमुनि के पश्चात् पुण्डरीकाक्ष एवं राममिश्र नामक दो आचार्य हुए। राममिश्र श्रीरंगम में रहते थे। भक्ति का प्रचार ही इनका लक्ष्य था। राममिश्र के बाद यामुनाचार्य का उल्लेख मिलता है। इनका जन्म सन् ९१८ ई० तथा निधन १०३८ई० में माना जाता है[3]। इन्होंने नाथ मुनि के शिष्य कुरुकनाथ से अष्टांग-योग की विद्या प्राप्त की तथा आलवारों के काव्यों के प्रचार-प्रसार के अतिरिक्त नवीन ग्रन्थों का सृजन किया, जो निम्न हैं--

(१) स्तोत रत्नम्, (२) चतुःश्लोकी, (३) सिद्धि-त्रय, (४) आगम-प्रामाण्य, (५) गीतार्थ संग्रह, और (६) महापुरुष निर्णय।

'प्रपन्नामृत' में ऐसा निर्देश है कि अपने जीवन के अन्तिम क्षणों में यामुनाचार्य जी ने रामानुजाचार्य से मिलने की इच्छा प्रकट

१-

२- न्याय परिशुद्धि--श्री वेदान्त देशिकाचार्य, पृ० १३

३-

की, किन्तु रामानुजाचार्य के आने के पूर्व ही वे इहलोक-लीला समाप्त कर चुके थे। यामुनाचार्य जी के हाथ की तीन उंगलियां मुड़ी देखकर रामानुजाचार्य तीन कार्यों के पूर्ण करने का संकेत समझ गए। वे कार्य थे -- ब्रह्म-सूत्र तथा विष्णु-सहस्र नाम पर भाष्य एवं 'दिव्य-प्रबन्धम्' की बृहद् टीका। आचार्यों के इन तीनों कार्यों की पूर्ति के लिए रामानुजाचार्य ने दृढ़ संकल्प किया।

श्री सम्प्रदाय अथवा विशिष्टाद्वैतवाद

यद्यपि वैष्णव-मत की रूपरेखा नाथमुनि, यामुनाचार्य आदि विद्वानों द्वारा बन चुकी थी, तथापि उसकी स्थापना एवं देशव्यापी प्रचार का श्रेय रामानुजाचार्य को ही है। इनका जन्म सन् १०१६ में मद्रास के निकटवर्ती ग्राम 'तैरुकुन्दूर' में हुआ था। इन्होंने बचपन में ही वेदान्त का अध्ययन 'यादव प्रकाश' नामक विद्वान् के यहां किया। अपनी चमत्कारिक प्रतिभा के बल पर रामानुजाचार्य जी वैष्णव-गद्दी पर आसीन हुए।

रामानुज के अनुसार चित्-जीव भोक्ता है तथा अचित जगत् भोग्य है। ईश्वर इन दोनों का अन्तर्यामी है। जीव, जगत तथा ईश्वर-- ये तीनों नित्य हैं, जिनमें जीव तथा जगत् स्वत: स्वतन्त्र होते हुए ईश्वर के अधीन हैं। अत: ये दोनों ईश्वर के शरीर रूप या प्रकार माने जाते हैं। रामानुज भी 'ब्रह्म' की अद्वैत सत्ता को स्वीकार करते हैं, किन्तु वह उपर्युक्त तीनों गुणों से विशिष्ट रहने के कारण 'विशिष्टाद्वैत' है। रामानुज के अनुसार जगत् में निर्गुण वस्तु की कल्पना नहीं की जा सकती। सभी पदार्थ गुण विशिष्ट हैं। 'ब्रह्म' सगुण है तथा पांच रूपों में प्रकट होता है[1]। परब्रह्म,[2] व्यूह, विभव[3] अर्चा या

१- 'स्वलीला वशादर्वा विभव व्यूह सूक्ष्मांतर्यामि भेदेन' -- सर्वदर्शन संग्रह

२- व्यूह का अर्थ है कि परब्रह्म ने ४ रूप धारण किए हैं। वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध।

३- कच्छ मच्छादि अवतार।

मूर्ति तथा अन्तर्यामी ।

शंकर ने जीव और ब्रह्म को एक माना है । जीव, ब्रह्म का ही प्रतिबिम्ब है । रामानुजाचार्य के अनुसार जीव न तो ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है न नित्य मुक्त हो । जीव ब्रह्म से निर्गत होता है तथा उसी का अंश है ।जीव और ब्रह्म का वही सम्बन्ध है जो अग्नि और चिनगारी का है । जीव अणु तथा ब्रह्म विभु(महान्) है ।

रामानुजाचार्य द्वारा प्रतिपादित भक्ति-मार्ग की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें हृदय-पक्ष और बुद्धि-पक्ष-- दोनों का सामंजस्य है । हृदय पक्ष आलवार संतों का तथा बुद्धि पक्ष शास्त्रीय भक्ति की देन है । द्विजों के साथ शूद्रों को भी वैष्णव धर्म में दीक्षित होने का अधिकार, सबसे पहले रामानुज ने ही प्रदान किया[१] ।'उन्होंने 'प्रपत्ति' शब्द का प्रयोग किया । प्रपत्ति का तात्पर्य यह कि भक्त भगवान् की शरण में जाकर उन्हीं की दया पर निर्भर रहता है । आगे चलकर 'प्रपत्ति' तत्व पर वैष्णव-भक्तों में दो दल हो गए । श्री वेदान्तदेशिक तथा उनके अनुयायियों ने भक्ति को ही मुक्ति का एकमात्र साधन नहीं स्वीकार किया, वरन् कर्म और ज्ञान का अनुष्ठान भी आवश्यक बताया । दूसरे और मणवालमामुनि तथा उनके पक्ष वालों ने प्रपत्ति को ही एकमात्र मार्ग बताया । प्रथम दल वाले 'वडकलै' तथा दूसरे दल वाले 'तेन्कलै' कहलाए । इनके भेदगत स्पष्टीकरण के लिए क्रमशः कपि-किशोर और मार्जार-किशोर का उदाहरण दिया जाता है । कपिकिशोर अपनी माँ के पेट से चिपका रहता है तथा मार्जार किशोर बिना प्रयास किए ही माँ द्वारा रक्षित होता है ।'वडकलै' दल वाले शास्त्र-ग्रन्थों के आधार पर भक्ति का उपदेश देते हैं तथा तेन्कलै पक्ष वाले 'दिव्य प्रबन्धम्' को भक्ति-साधना का आधार मानते हैं ।

जिस प्रकार रामानुज ने अपने सिद्धान्त का नाम 'विशिष्टाद्वैत' रखकर शंकर के अद्वैत मत से समझौता किया, उसी प्रकार सगुणोपासक होते हुए भी उपर के आचार्यों ने 'अद्वैत' के अन्तिम रूप को शुद्धाद्वैत,

---

१- श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' --'संस्कृति के चार अध्याय' (द्वितीय संस्करण)

द्वैताद्वैत आदि भिन्न-भिन्न नामों से अपनाया[1]।

सनक सम्प्रदाय अथवा द्वैताद्वैतवाद

इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक श्री निम्बार्काचार्य थे। इनके नाम के आधार पर ही इस सम्प्रदाय को निम्बार्क सम्प्रदाय भी कहा जाता है। जहाँ तक इनके जीवन-काल का सम्बन्ध है, इस विषय में विद्वान् किसी निश्चित निर्णय पर नहीं पहुंच सके हैं तथापि डा० मण्डारकर के अनुसार इनका निधन सन् ११७२ ई० में हुआ था। सम्प्रदाय के अनुयायियों का विश्वास है कि इनका जन्म १११४ में कर्नाटक के अन्तर्गत बल्लारी जिले के निम्बापुर नगर में हुआ था। ये ब्राह्मण जाति के तेलुगु वंश में उत्पन्न हुए थे। इन्हें विष्णु के सुदर्शन चक्र का अवतार माना जाता है।

श्री निम्बार्काचार्य ने 'द्वैताद्वैत' अथवा 'भेदाभेद' मत का प्रतिपादन किया। शंकराचार्य के अद्वैतवाद के विरोध में ही इस मत का आविर्भाव हुआ। इन्होंने 'वेदान्तपारिजात सौरभ' तथा 'दशश्लोकी' नामक ग्रन्थों की रचना कर अपने मत का स्पष्टीकरण किया। प्रथम ग्रन्थ में ब्रह्मसूत्रों पर संक्षिप्त भाष्य है तथा द्वितीय ग्रन्थ में सिद्धान्तों का विवेचन है। इसे 'सिद्धान्त रत्न' भी कहा जाता है।

द्वैताद्वैत सिद्धान्त के अनुसार जीव, जगत् एवं ईश्वर के भिन्न-भिन्न होने पर भी जीव एवं जगत् का व्यापार एवं अस्तित्व ईश्वर की इच्छा पर ही अवलम्बित है। जीवात्मा अवस्था-भेद से विभिन्न शरीरों में पृथक्-पृथक् है तथा अनादि माया से बद्ध रहता है। ईश्वर की कृपा से ही उसे अपनी प्रकृति का ज्ञान होता है। ब्रह्म अद्वैत, अविभक्त तथा निर्विकार है। ब्रह्म के विभिन्न रूप हैं—'पर अपूर्त' अर्थात् परम अपार तत्व' 'अपर अपूर्त' अर्थात

१- हिन्दी और कन्नड में भक्ति-आन्दोलन का तुलनात्मक अध्ययन--डा० हिरण्मय पृ० २६।

सर्वस्रष्टा और 'अपर-मूर्त' अर्थात् जीव रूप है।

इस सम्प्रदाय में प्रपत्ति अथवा शरणागति पर विशेष जोर दिया गया है। जीवों पर भगवद्-अनुग्रह प्रपत्ति द्वारा ही होता है, इस अनुग्रह के परिणामस्वरूप ही भगवान् के प्रति प्रेम भाव जागृत होता है। इस सम्प्रदाय के उपास्य देव श्रीकृष्ण हैं, जिनकी वन्दना ब्रह्मा, शिव आदि समस्त देवता किया करते हैं[1]। श्रीकृष्ण की उपासना के साथ ही साथ राधा की उपासना, इस सम्प्रदाय की प्रमुख विशेषता है। श्री निम्बार्काचार्य ने राधा को 'अनुरूप सौभगा' माना है। तात्पर्य यह कि वे श्रीकृष्ण सदृश स्वरूप वाली हैं।

निम्बार्क सम्प्रदाय तथा रामानुज की भक्ति में एक ओर जहां शरणागति अथवा प्रपत्ति में साम्य है, वहीं दूसरी ओर उपास्य देव में वैषम्य भी है। रामानुजीय भक्ति-- नारायण, लक्ष्मी भू और लीला तक ही सीमित रखी गई है, किन्तु निम्बार्क मत में श्रीकृष्ण तथा सखियों से परिवेष्टित राधा को ही प्रधानता दी गई है। तात्पर्य यह कि प्रेम-लक्षणा-रागात्मिका परा भक्ति ही भक्ति-साधना का चरम लक्ष्य है। जो भक्ति आन्दोलन में इस सम्प्रदाय की प्रमुख देन है।

ब्रह्म सम्प्रदाय अथवा द्वैतवाद

मध्वाचार्य जी, आचार्य शंकर का विरोध करने वाले दूसरे आचार्य हैं। शंकर के विरोध के साथ ही साथ उन्होंने भक्ति की पूरी प्रतिष्ठा हेतु रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत को भी अस्वीकार कर द्वैतवाद की स्थापना की। इनका जन्म सन् ११९७ में कर्नाटक के 'उडुपि' नामक स्थान में हुआ[2]। इन्होंने वेद-वेदांगों का सम्यक् अध्ययन किया। दक्षिण तथा उत्तर के

१- दशश्लोकी -- श्लोक ८

२- मध्वाचार्य के जीवन-काल के विषय में विद्वान् मतैक्य नहीं है।
बी०एन० कृष्णमूर्ति --'द हेट आफ मध्वाचार्य', तृतीय संस्करण, पृ०२४५

सभी तीर्थ क्षेत्रों की यात्रा कर, 'प्रस्थानत्रयी' पर विद्वत्तापूर्ण भाष्य लिखा। इनके रचे लगभग ३७ ग्रन्थ प्राप्त होते हैं।

इनके मतानुसार परमात्मा अनन्तगुण संयुक्त विष्णु हैं। उत्पत्ति, स्थिति, संहार, नियमन, ज्ञान, आवरण, बन्धन तथा मोक्ष इन आठों के कर्ता भगवान् ही हैं। ज्ञान, आनन्द आदि कल्याण गुण ही उनके शरीर हैं। श्री विष्णु सर्व स्वतन्त्र हैं तथा अनेक रूप धारण करते हैं। उनके इन रूपों में मूल रूप से कोई भेद नहीं। 'मत्स्य कूर्मादि स्वरूपों से करचरणादि अवयवों से, ज्ञानानन्दादि गुणों से भगवान अत्यन्त अभिन्न हैं। अतस्व भगवान् तथा उनके अवतारों में भेद दृष्टि रखना नितान्त अनुचित है।'[१]

माध्वमत के अनुसार जगत् सत्य है, जीव परमात्मा के किंकर हैं। जीवों की संख्या अनन्त है, जो तीन श्रेणियों में विभाजित है। १- मुक्ति योग्य, २- नित्य संसारी तथा ३- तमोयोग्य। मध्वाचार्य ने मुक्ति के चार प्रकार-- कर्मक्षय, उत्क्रान्ति लय, अर्चिरादि मार्ग, और भोग बतलाये हैं तथा भोग-मुक्ति के भी चार सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य नामक चार प्रकार हैं। 'मुक्तिर्नैज सुखानु भूतिः' अर्थात् वास्तविक सुख की अनुभूति ही मुक्ति है।

मध्वाचार्य ने उपासना के दो रूप स्वीकार किये हैं-- १- शास्त्र अनुशीलन द्वारा, २- ध्यान द्वारा। शास्त्राभ्यास से अज्ञान दूर हो जाता है। इस मत में 'अमला भक्ति' सर्वोच्च मानी गई है। यह दोष रहित, निर्मल भक्ति है। माध्वमत में रामकृष्ण आदि सभी अवतारों की उपासना का विधान है, किन्तु राधाकृष्ण का उल्लेख नहीं किया गया है।

मध्वाचार्य के द्वैतवाद की प्रमुख विशेषता यह है कि ब्रह्म तथा जीव को एक न मानकर पृथक्-पृथक् स्वीकार किया गया है। यह पार्थक्य भाव भक्ति के लिए आवश्यक है, क्योंकि बिना पृथकता के भक्ति संभव नहीं।

१- श्री बलदेव उपाध्याय-- 'भारतीय दर्शन', पृ० ४६१

विष्णु स्वामी सम्प्रदाय

दक्षिण के वैष्णव - आचार्यों में विष्णु स्वामी का स्थान प्रमुख है । इन्होंने रुद्र सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया, किन्तु खेद का विषय है कि यह विष्णु स्वामी हैं कौन ? इसका निर्णय नहीं हो सका । आधुनिक विद्वान् चार विष्णु-स्वामियों की कल्पना करते हैं । पहले विष्णु स्वामी, जिन्होंने 'सर्वज्ञ-सूक्त' नामक भाष्य लिखा, तमिल प्रदेश के पाण्ड्य राजा के राजगुरु देवेश्वर भट्ट के पुत्र थे । इनका दूसरा नाम देवतनु भी था । दूसरे विष्णु स्वामी कांचीपुरम् निवासी राजगोपाल विष्णु स्वामी थे । इनका जन्म सन् ८३०ई० में हुआ था । 'श्रीकृष्णकर्णामृत' ग्रन्थ के रचयिता लीलाशुक बिल्वमंगल इन्हीं के शिष्य थे । तीसरे विष्णु स्वामी-- वल्लभ सम्प्रदाय के लोगों के अनुसार वल्लभाचार्य की गुरुपरम्परा के एक प्रधान आचार्य थे । भण्डारकर इनका समय १३ वीं शताब्दी में मानते हैं[1] । चौथे विष्णु स्वामी तमिल प्रदेश के ब्राह्मण थे तथा कावेरी नदी के तट पर रहते थे, जिसके कारण उन्हें 'कावेरी विष्णु स्वामी' भी कहा जाता है[2] । विष्णु स्वामी के सिद्धान्तों के आधार पर यह अधिक स्पष्ट होता है कि १३वीं शताब्दी में उत्पन्न होने वाले विष्णु स्वामी ही वास्तव में शुद्धाद्वैत के प्रवर्तक होंगे, क्योंकि इनके सिद्धान्तों में वैष्णव धर्म के तीन प्रमुख आचार्यों के मत का स्वरूप किसी-न-किसी रूप में दृष्टिगत होता है और यह सरलता से अनुमानित किया जा सकता है कि उन वैष्णव आचार्यों के सिद्धान्तों का प्रभाव इन पर अवश्य पड़ा होगा । अतः ये रामानुजाचार्य और निम्बार्काचार्य के बाद ही वैष्णव भक्ति के एक विशिष्ट सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा करने के लिए अग्रसर हुए होंगे । इस दृष्टि से मैं इनका समय डा०भण्डारकर द्वारा निर्धारित तेरहवीं शताब्दी से सहमत हूं ।

विष्णु स्वामी द्वारा रचित अनेक ग्रन्थों में 'सर्वज्ञ-सूक्त' ही प्रामाणिक रचना मानी जाती है, जिसमें उनके दार्शनिक सिद्धान्तों तथा भक्तिपद्धति का परिचय मिलता है । इस मत के अनुसार 'ईश्वर' सच्चिदानन्दस्वरूप है और वह अपनी 'हलादिनी संविद् शक्ति' के द्वारा 'आश्लिष्ट' है । 'माया' ईश्वर के

१- अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, भाग१, पृ०४२

२- Prof. Kane's History of Dharma Sutra, Vol. I, Page 271

आधीन है । जीव 'स्वाविद्यासंवृत' और 'क्लेशनिकराकर' है अर्थात् अपनी अविद्या द्वारा आच्छादित तथा क्लेशों का आगार स्वरूप है ।

मध्ययुगीन उत्तर भारत में भक्ति सम्प्रदाय

वल्लभ सम्प्रदाय अथवा शुद्धाद्वैतवाद

वल्लभाचार्य जी का जन्म १४७९ई० में आन्ध्र प्रदेश के कांकरवाड़ नामक स्थान में हुआ था । ये तैलंग ब्राह्मण थे । उनके पिता का नाम श्री वल्लभ लक्ष्मण भट्ट तथा माता का नाम इल्लमगारु था । कहा जाता है कि उन्होंने ११वर्ष की अवस्था में वेद,वेदांग,दर्शन तथा पुराणों का अध्ययन कर ख्याति प्राप्त की । उन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचनाएँ की,जिनमें ब्रह्म सूत्र पर लिखा हुआ 'अणु-भाष्य', पूर्व मीमांसा भाष्य, तत्वदीप निबन्ध, भागवत की व्याख्या-सुबोधिनी आदि प्रमुख हैं । 'वल्लभ-दिग्विजय' में उनके द्वारा रचित ३५ ग्रन्थों का उल्लेख है,किन्तु अभी तक लगभग ३० ग्रन्थ ही प्रकाश में आ सके हैं ।

वल्लभाचार्य जी का दार्शनिक सिद्धान्त 'शुद्धाद्वैत' है ।शंकराचार्य के मायावाद का खण्डन कर, उनके मत से भिन्नता दिखलाने के लिए 'शुद्ध' विशेषण जोड़ दिया । वल्लभ ने 'शुद्ध' शब्द का अर्थ 'माया सम्बन्ध रहित' माना है तथा माया से अलिप्त नितान्त शुद्ध ब्रह्म को जगत् का कारण माना है[१] ।

वल्लभाचार्य जी के अनुसार 'ब्रह्म' सत्,चित् और आनन्द स्वरूप है । वह सर्व-व्यापक तथा सर्व-दा विद्यमान है । उनके सगुण तथा निर्गुण दोनों रूप नित्य हैं । वल्लभाचार्य ने ब्रह्म के तीन प्रकार बताए हैं--(१) आधि दैविक ब्रह्म, (२) आध्यात्मिक अर्थात् अक्षर ब्रह्म, (३) आधिभौतिक अर्थात् जगतरूपी ब्रह्म । जीव

१- माया सम्बन्ध रहितं शुद्धमित्यच्युते बुधः ।
कार्य कारण रूपं हि शुद्ध ब्रह्म न मायिकम् ।।
(शुद्धाद्वैत मार्तण्ड २८)

ईश्वर-भक्ति द्वारा ही भगवान् की कृपा का पात्र बनता है । वल्लभ के अनुसार जीव तीन प्रकार के हैं-- (१) शुद्ध, (२) मुक्त, (३) संसार। । उनके अनुसार जगत नित्य है। जगत तथा संसार में अन्तर है । ईश्वर की इच्छानुकूल ईश्वर के सत् अंश का विस्तार 'जगत्' है तथा अविद्या के कारण ममता रूप पदार्थ 'संसार' है ।

जिस प्रकार वल्लभ सम्प्रदाय का दार्शनिक पक्ष 'शुद्धाद्वैत' कहलाता है, उसी प्रकार उसका उपासना पक्ष 'पुष्टि-मार्ग' कहलाता है । पुष्टि या पोषण भगवान् के अनुग्रह को कहते हैं[१]। इस पुष्टि-मार्गीय भक्ति के ४ भेद हैं । (१) मर्यादा पुष्टि, (२) प्रवाह-पुष्टि, (३) पुष्ट-पुष्टि, (४) शुद्ध-पुष्टि । मर्यादा पुष्टि में, भगवान के गुणों को जानते हुए भक्ति की जाती है । श्रवण में विशेष रुचि रखते हुए भक्ति करना प्रवाह-पुष्टि-भक्ति है । पुष्ट-पुष्टि भक्ति में भक्त ईश्वर का यथार्थ ज्ञान उपलब्ध कर लेने पर स्थिर रहता है । प्रेमपूर्वक ईश्वर के गुण, श्रवण, ध्यान आदि में दत्तचित्त रहना ही शुद्ध-पुष्टि-भक्ति है । श्रवण-पूजन से मर्यादा भक्ति तथा भगवान् के अनुग्रह से पुष्टि-भक्ति अथवा रागात्मिका भक्ति प्राप्त होती है । 'अष्टछाप' पुष्टिमार्ग का महत्वपूर्ण देन है, जिनके कवियों द्वारा कृष्णोपासना के विपुल साहित्य का सृजन हुआ ।

गौड़ीय सम्प्रदाय अथवा अचिन्त्य भेदाभेदवाद

इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक चैतन्य महाप्रभु थे । इनका जन्म बंगाल के 'नदिया' (श्रीहट्ट) नामक स्थान में सन् १४८५ में हुआ । बहुत गोरे होने के कारण इनका दूसरा नाम गौरांग भी पड़ा । चैतन्य देव ने भारतवर्ष के प्रमुख तीर्थों का भ्रमण किया तथा अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया । जीवन के अन्तिम दिनों में ये श्रीकृष्ण की भक्ति में पूर्णतः लीन हो गये थे ।

अन्य आचार्यों की भाँति अपने मत का प्रतिपादन करने के लिए इन्होंने कोई भाष्य नहीं लिखा । इनके द्वारा रचित केवल ४० श्लोक ही प्राप्त

१- पोषणं तदनुग्रहः -- भागवत ३० २।१०

होते हैं । आचार्य बलदेव, विद्याभूषण आदि शिष्यों ने 'गोविन्द-भाष्य' नामक ग्रन्थ लिखकर इनके दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन किया । दार्शनिक सिद्धान्त की दृष्टि से इनमा सम्प्रदाय 'अचिन्त्य भेदाभेद' कहलाता है, जिसके परम तत्व सच्चिदानन्द स्वरूप स्वयं श्रीकृष्ण हैं । शक्ति और शक्तिमान् में न तो परस्पर भेद ही सिद्ध होता है और न अभेद ही और इन दोनों का सम्बन्ध तर्क के द्वारा अचिंत्य है, इसीलिए यह मत 'अचिन्त्य भेदाभेद' कहलाता है । श्रीकृष्ण की अनन्त शक्ति जब प्रकट हैक तो उसे भगवान् जब व अप्रकट है तो उसे ब्रह्म तथा जब कुछ प्रकट कुछ अप्रकट है तो उसे परमात्मा कहते हैं । ब्रह्म विशुद्ध ज्ञान का विषय है । ब्रह्म की प्राप्ति योग से तथा भगवान् का साक्षात्कार भक्ति से होता है । परब्रह्म के तीन रूप हैं-- (१) स्वयं रूप, (२) तदैकात्मक रूप तथा (३) आवेश रूप । इसके अतिरिक्त भगवान् के अवतार तीन प्रकार के हैं-- पुरुषावतार, गुणावतार तथा लीलावतार । अनन्त शक्ति भगवान् श्रीकृष्ण की तीन प्रकार की शक्तियां हैं --(१) अन्तरंग शक्ति, (२) बहिरंग शक्ति, (३) तटस्थ शक्ति । भगवान् की स्वरूप शक्ति--'अन्तरंग, माया-बहिरंग' तथा दोनों शक्तियों के बीच की शक्ति 'तटस्थ' शक्ति कहलाती है ।

चैतन्य महाप्रभु को 'राधा' का अवतार माना जाता है । वे श्रीकृष्ण के प्रेम में सारी सुध-बुध खोकर, राधा स्वरूप होकर कृष्ण को पुकारने लगते हैं । इस प्रकार चैतन्य मत में इस साधना ही प्रधान साधना है ।

राधावल्लभीय सम्प्रदाय

१६ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ब्रजभूमि में श्री चैतन्य के गौड़ीय सम्प्रदाय तथा श्री वल्लभ सम्प्रदायों के साथ ही साथ राधाकृष्ण की युगल-उपासना का एक दूसरा सम्प्रदाय चल पड़ा, जो 'राधावल्लभीय' नाम से प्रसिद्ध हुआ । गोस्वामी हितहरिवंश ने इस सम्प्रदाय का प्रवर्त्तन किया । ये लगभग सन् १५०२ई० में सहारनपुर जिले के देवबन ग्राम में एक ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे । इनके पिता का नाम श्री व्यास था । श्री हितहरिवंश ने लगभग सन् १५३४ई० में वृन्दाबन में एक मन्दिर बनवाकर राधावल्लभ की मूर्ति स्थापित की तथा कृष्ण-भक्ति पद्धति का प्रचार प्रारम्भ किया । इस सम्प्रदाय को कुछ लोग निम्बार्क मत की वृन्दाबनी शाखा

तथा कुछ चैतन्य मत की शाखा मानते हैं, किन्तु यह सम्प्रदाय अपनी साधना-पद्धति, विचार-भावना, सेवा-पूजा आदि में किसी सम्प्रदाय का अनुगत नहीं है। इस संप्रदाय की प्रमुख विशेषता है-- राधाचरण की प्रधानता। इस सम्प्रदाय में प्रेम के संयोग पक्ष को ही ग्रहण किया गया है -- वियोग पक्ष को नहीं। राधा-कृष्ण की कुंजलीला में जो आनन्द मिलता है, उसे 'परम रस माधुरी भाव' कहा गया है। इनकी रचनाओं में दो ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं -- एक संस्कृत में 'राधा सुधा निधि' तथा दूसरा हिन्दी (ब्रजभाषा) में 'हित चौरासी'। इनमें राधा-कृष्ण की रूप माधुरी तथा उनके विहार एवं प्रेम-लीला का शृंगार-परक वर्णन है।

हरिदासी अथवा सखी सम्प्रदाय

वृन्दाबन में जितने सम्प्रदाय फले-फूले हैं, उनमें राधा-कृष्ण की युगल उपासना को लेकर एक और सम्प्रदाय प्रचलित हुआ, जिसे 'सखी संप्रदाय' कहा जाता है। इसके प्रवर्तक स्वामी हरिदास जी हैं। इनका जन्म कुछ विद्वान् सन् १३३४ ई० में तथा कुछ सन् १४२८ई० में स्वीकार करते हैं। हरिदास पुर के एक समाढ्य ब्राह्मण-कुल में इनका जन्म हुआ था। ये राधा-कृष्ण की युगल उपासना के मोह-संवरण से अपने को बचा न सके तथा २५ वर्ष की अवस्था में ही गृह परित्याग कर वृन्दाबन में आ बसे और राधा-कृष्ण की उपासना का प्रचार सखी भाव से करने लगे।

कुछ वि.ान् सखी सम्प्रदाय को निम्बार्क सम्प्रदाय की एक शाखा के रूप में स्वीकार करते हैं, किन्तु डा० विजयेन्द्र स्नातक ने सखी सम्प्रदाय को निम्बार्क सम्प्रदाय से भिन्न माना है। स्वामी हरिदास जी के सम्प्रदाय में सखी भाव से उपासना करने का विधान है, किन्तु निम्बार्क सम्प्रदाय में ऐसा नहीं है। 'टट्टी संस्थान' में जो साहित्य प्राप्त होता है, उसका भी सम्बन्ध निम्बार्क संप्रदाय से नहीं प्रतीत होता। स्वामी हरिदास जी का 'सखी सम्प्रदाय' ही 'टट्टी संप्रदाय' के नाम से प्रसिद्ध है। इस सम्प्रदाय के आचार्यों ने ब्रजभाषा में ही अपनी रचनाएं की हैं, जिनमें गहरी भक्ति-भावना के साथ-साथ साहित्यिक सौरभ भी विद्यमान है।

ललितावतार श्री स्वामी हरिदास जी श्यामा-श्याम के नित्य विहार, निकुंज-रस, के रसिक हैं । निकुंज-विहारी का प्रेम उनकी कृपा से ही प्राप्त होता है । इस सम्प्रदाय के अन्य आचार्यों में श्री विट्ठल विपुल जी, श्री बिहारिनी-दास जी, श्री भगवत् रसिक जी, तथा श्री ललितकिशोर जी ने ब्रजभाषा में उत्तम कोटि के भक्ति-साहित्य का सृजन किया ।

इस प्रकार विभिन्न आचार्यों ने अपने विशिष्ट कार्यों द्वारा, भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों की स्थापना कर भक्ति-आन्दोलन को प्रगति प्रदान की । नाथमुनि तथा यामुनाचार्य ने वैष्णव मत के प्रचार की रूपरेखा प्रस्तुत की तथा रामानुजाचार्य ने शंकर के 'अद्वैतवाद' के विरोध में विशिष्टाद्वैतवाद', निम्बार्काचार्य ने 'द्वैताद्वैतवाद', मध्वाचार्य ने 'द्वैतवाद' वल्लभाचार्य ने 'शुद्धाद्वैतवाद', चैतन्यमहाप्रभु ने 'गाड़ीय सम्प्रदाय' हित हरिवंश ने 'राधावल्लभीय सम्प्रदाय' तथा स्वामी हरिदास ने 'सखी सम्प्रदाय' की स्थापना की, जिसके परिणामस्वरूप भक्ति का देशव्यापी प्रचार और प्रसार सम्भव हो सका ।

(ग) संघर्षों की स्थिति

मध्ययुगीन वातावरण

'मध्य-युग' अतीत और वर्तमान की संयोजक कड़ी है । वर्तमान को सीमाबद्ध किया जा सकता है, किन्तु अतीत के सम्बन्ध में अनेक अज्ञात सूत्र छूट सकते हैं । अतीत, वर्तमान और भविष्य का विभाजन सुविधाजनक होते हुए भी वास्तविक नहीं है, क्योंकि समय की गति अप्रतिहत है । अतीत वर्तमान में अन्तर्भुक्त रहता है और वर्तमान भविष्य का प्रेरक है । ऐसी स्थिति में 'मध्ययुग' का स्वतंत्र अनुसन्धान संभव नहीं । फिर भी भारतीय इतिहास में मुस्लिम शासन की स्थापना के पूर्व-काल को इतिहासकारों ने प्राचीन काल ठहराया है तथा ब्रिटिश शासन की स्थापना के उत्तर-काल को आधुनिक काल की संज्ञा दी है । इन दोनों के बीच का युग मुस्लिम प्रभुत्व का काल, 'मध्य-काल' (मध्य युग) कहा जाता है[१] । इस प्रकार यह युग १४ वीं शताब्दी से १८ वीं शताब्दी के बीच माना जा सकता है ।

यह संघर्ष का युग था । मुस्लिम-प्रभुत्व तीव्र गति से बढ़ रहा था । मुस्लिम आतंक से भयभीत होने के कारण जनता में भारी अशान्ति थी । संत्रस्त जनता किंकर्तव्यविमूढ़ होकर धर्म-संकट में पड़ी हुई थी । उस समय के संघर्ष को राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक -- इन तीन पृष्ठभूमियों में रखा जा सकता है । यद्यपि इन पृष्ठभूमियों का संकेत विषय-प्रवेश में किया जा चुका है तथापि उनका विस्तृत-विवरण यहाँ देना समीचीन होगा ।

(१) राजनीतिक पृष्ठभूमि

मध्य युग राजनीतिक दृष्टिकोण से सांस्कृतिक द्वन्द्व का काल था । इस युग में मुसलमानी शासकों ने दिल्ली की गद्दी छिना ली थी और समस्त राजनीतिक मान्यताएँ पंक के जल की भाँति मलीन हो गई थीं । जो राजवंश

१- डा० अवधविहारी पाण्डेय --'पूर्व मध्यकालीन भारत का इतिहास', पृ० ३

दिल्ली में उठे, वे वर्षा-काल के बादलों की भाँति उठे, घुमड़े, गर्जे और पानी-पानी होकर भूमि पर गिर पड़े। उनके कुछ काल तक घुमड़ने और गरजने में ही सारी राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियाँ अस्त-व्यस्त हुईं और उनके रूपों में परिवर्तन हुए[१]। राजनीतिक दृष्टिकोण से मुसलमान-शासन को प्रारम्भिक, मध्य तथा अन्त-- इन तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है, जिनमें प्रारम्भ तथा अन्त का समय आतंकपूर्ण था और मध्य का समय था-- उदारतापूर्ण।

प्रारम्भिक युग में मुहम्मद-बिन-तुग़लक (सन् १३२५-५१ई०) से लेकर इब्राहीम लोदी (सन् १५१८-१५२६ई०) तक सोलह शासकों ने दिल्ली के तख्त को सुशोभित किया। युद्ध तथा आक्रमण ही इनके प्रमुख कार्य रहे। मुस्लिम-कानून, और न्याय-व्यवस्था ही इनके शासन के मुख्य स्तम्भ बने। मुहम्मद तुग़लक ने मुल्लाओं, शेख और मौलवियों की असीम शक्ति को सीमित करने का प्रयास किया, क्योंकि इनके कारण राजकीय शासन-व्यवस्था में बाधा पड़ता थी[२]। उसने उलमाओं को कभी इस बात का प्रोत्साहन नहीं दिया कि वे राजनीतिक मामलों में हस्तक्षेप करें। उसने भीषण अकाल के समय में भी हिन्दू जनता पर दण्ड-कर लगाकर उनको सुख, शान्ति एवं सुव्यवस्था छीन ली, परिणामतः सर्वत्र दुःख-दैन्य, दुर्भिक्ष-बलाति का वातावरण फैल गया।

उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका भाई फिरोजशाह तुग़लक (सन् १३५१-८८ई०) तख्त पर बैठा। वह एक कट्टर मुसलमान था। हिन्दुओं को आतंकित करना, उन्हें हठपूर्वक दण्ड देकर इस्लाम धर्म स्वीकार करवाना, उसकी नृशंसता, कट्टर धर्मान्धता संकीर्णता की द्योतिका थी। इस नीति का दुष्परिणाम यह हुआ कि शासन का संचालन पक्षपात एवं साम्प्रदायिकता के आधार पर होने लगा[३]। उसने अपने भाई मुहम्मद तुग़लक (जिसका वास्तविक नाम 'जौना' था) के

१- डा० रामकुमार वर्मा--संतकाव्य (निबन्ध), हिन्दी साहित्य भाग२, पृ०१६६
२- डा० ईश्वरी प्रसाद -- द्रष्टव्य इब्नबतूता का उद्धरण-मिडिवियल इण्डिया में पृ०२३८ का पाद टिप्पणी।
३- डा० अवधविहारी पाण्डेय--'पूर्व मध्यकालीन भारत का इतिहास', पृ०२६१

नाम पर जौनपुर का नगर बसाया । यद्यपि फिरोजशाह के शासन-काल में ही दिल्ली का साम्राज्य सीमित हो चुका था, तथापि उसकी मृत्यु के पश्चात् वह छिन्न-भिन्न एवं महत्त्व-हीन हो गया । फिरोज के निर्बल उत्तराधिकारियों के कारण प्रदेश पर प्रदेश स्वतन्त्र होने लगे । स्वतन्त्र राज्यों की स्थापनाएं होने लगीं । इसी बीच सन् १३९८ में दिल्ली की नींव हिला देने वाले तैमूरलंग का आक्रमण हुआ । तैमूर की खूनी तलवार भारतीय इतिहास की भयानक और मर्मभेदी घटना है । भारत पर आक्रमण करने के पूर्व ही उसने अपना उद्देश्य निम्न शब्दों में प्रकट किया --'भारत पर आक्रमण करने में मेरा उद्देश्य यह है कि हम लोग विधर्मियों के विरुद्ध धर्म सेना ले जाकर मुहम्मद के सिद्धान्त के अनुसार उनको सद्धर्म में दीक्षित करें और देश को कुफ्र तथा बहुदेववाद के कलुष से मुक्त कर सकें और उनके देवालयों तथा मूर्तियों का विध्वंस करके खुदा के समक्ष 'गाज़ी' और 'मुजाहिद' के रूप में प्रकट हो सकें ।'[1] तैमूर की शक्ति और उसकी विजय-यात्रा बाद के सभी शासकों के लिए आदर्श बन गई और उनका शासन तैमूर के पद-चिन्हों पर ही चलने लगा ।

पन्द्रहवीं शताब्दी में शासन की बाग-डोर अफगान साम्राज्य के हाथों में आई । सिकन्दर लोदी (सन् १४८९-१५१७ई०) ने शासन-तन्त्र में उत्साह एवं नवीन जीवन लाने का अथक प्रयत्न किया । यद्यपि उसने गरीब एवं असहाय जनता के प्रति दयालुता दिखलाई, उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति की तथापि धर्म के विषय में उसकी दयालुता भी कुण्ठित हो गई । हिन्दुओं पर बलात् इस्लाम-धर्म लादा जाने लगा । मंदिरों को तोड़कर उनके स्थान पर मस्जिदों का निर्माण कराया गया । इतना ही नहीं, मूर्तियों को, कसाइयों के हाथ में दे दिया गया, जिनका उपयोग उन्होंने मांस बेचने के लिए बाट के रूप में किया, जिससे वे मांस तौल सकें । इसकी मृत्यु के पश्चात् इब्राहीम

१- डा० अवध बिहारी पाण्डेय --'पूर्व मध्यकालीन भारत का इतिहास', पृ०२७४

लोदी (सन् १५१८-१५२६ई०) सिंहासनारूढ़ हुआ । इसके शासन-काल में भी हिन्दू-जनता की भाग्य-लिपि काले अक्षरों में ही लिखी गई । इस प्रकार तुगलक वंश से लेकर लोदी वंश के शासन-काल की सीमा दो-सौ वर्षों की है, जिसमें सोलह शासकों ने शान्तिप्रियता के स्थान पर कट्टर धर्मान्धता तथा युद्धप्रियता का ही प्रदर्शन किया, फलत: जनता में घोर असन्तोष छा गया ।

प्रारम्भिक शासकों की अपेक्षा मध्यकालीन शासकों का दृष्टिकोण धर्मान्धता में ही केन्द्रित न होकर उदारतापूर्ण कार्यों में भी अग्रसर हुआ । सन् १५२६ ई० में बाबर ने दिल्ली के सिंहासन पर अधिकार किया । इस समय दो सौ वर्षों से पददलित जनता को उठने का अवसर प्राप्त हुआ । बाबर के बाद हुमायूं सिंहासनारूढ़ हुआ । शेरशाह ने हुमायूं को पराजित कर अपने अल्पकालीन शासन-काल में नवीन स्फूर्ति दिखलाई और इस प्रकार अकबर के सुदीर्घकालीन नियंत्रित राज्य-व्यवस्था की अग्रिम सूचना मिली । अन्य सभी राजाओं की अपेक्षा अकबर का शासन-काल जितने समय तक रहा, उतने समय तक व्यवस्थित एवं शान्तिपूर्ण रहा । अकबर के पश्चात् जहांगीर और शाहजहां ने भी अधिकतर अकबर की नीति का पालन किया । फलत: यह युग संघर्ष, विग्रह और विद्रोह का न होकर, जनता के लिए सुख-शान्तिपूर्ण था ।

इसी बीच सुदीर्घकालीन नियंत्रित राज्य-व्यवस्था को भंग कर देने वाला जनता में अशान्ति पैदा कर देने वाला, आक्रमण और युद्ध का समर्थक औरंगजेब राज्य-गद्दी पर बैठा । वह अन्तिम युगीन शासकों में प्रथम तथा प्रमुख था । वह एक संकीर्ण हृदय एवं कट्टर धर्मान्ध था । जनता को कठोर से कठोर दण्ड देकर, इस्लाम धर्म में दीक्षित करना इसकी सहज स्वाभाविक प्रवृत्ति थी । उसके आतंक से भयभीत होकर अधिकांश जनता हिन्दू धर्म छोड़कर इस्लाम धर्म स्वीकार करने लगी, क्योंकि इस धर्म के विरुद्ध आवाज़ उठाने वाले को प्राण-दण्ड दे दिया जाता था । औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् कुछ अन्य छोटे-मोटे राजा भी हुए जो उसके पद-चिन्हों पर चलते रहे । औरंगजेब ने

फिरोजशाह की शासन-पद्धति अपनाई और दोनों के राजत्व-काल पतनोन्मुख साम्राज्य के अपने-अपने युगों में अन्तिम चिन्ह रहे । लड़खड़ाता हुआ मुगल साम्राज्य औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् सांसें गिनता रहा और उसने विविध राज्यों के विद्रोह के सामने घुटने टेक दिए ।

सम्पूर्ण शासकों की राजनीति को दृष्टिकोण में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि इस समय राजनीति कटी हुई पतंग की भांति पतनोन्मुख हो रही थी । जो उसकी घिसटती हुई डोर पकड़ लेता, वही उसे भाग्याकाश की ऊंचाई तक खींच ले जाता । राजनीति में कोई पवित्रता नहीं रही । कूटनीति, हिंसा, छल त्रिशूल की भांति फेंके जाते थे और देश के वक्षस्थल में घुसकर उसे रक्त से नहला देते थे । स्मशान में घूमते हुए प्रेतों की भांति दिल्ली के शासक-शवों पर बैठकर आनन्द से खिलखिला उठते थे ।.... इस भांति शासक वर्ग जनता की सहानुभूति खो चुका था । जनता भी "कोउ नृप होउ" की मनोवृत्ति से राजनीति के प्रति उदासीन थी-- उदासीन ही नहीं, आक्रोशमयी भी हो उठी थी ।[१] क्योंकि म्लेच्छ और शूद्र उसके आचार-विचार के निर्णायक बन गए थे और थे उसके धर्म और प्राण के ग्राहक भी ।

कबीर ने अपने एक पद में आध्यात्मिक रूपक रखते हुए तत्कालीन राजनीतिक स्थिति की ओर संकेत किया है --

एक कोटु पंच सिकंदारा पंचे मागहिं काला ।
जिमी नाहीं मैं किसी की बोई, ऐसा देतु दुखाला ।
ऊपरि भुजा करि मैं गुर पहि पुकारिआ
तिनि हउ लीआ उबारी ।।१।।
नउ डाडी दस हू मुंसफ धावहिं, रहंति वसत न देही ।
डोरी पूरी मांपहि नाहीं, बहु बिसटाला लेहीं ।।आदि ।।[२]

१- डा० रामकुमार वर्मा --हिन्दी साहित्य, भाग२: संतकाव्य(निबन्ध), पृ० १६६
२- संत कबीर -- रागु सूही ५

राजनीति की ऐसी हिंसापूर्ण प्रवृत्ति के फलस्वरूप जनता का ध्यान धर्म एवं समाज के संगठन की ओर आकृष्ट हुआ। इस युग में धर्म का प्रचार आचार्यों के हाथ न रहकर कवियों के हाथ में आ गया और वे जन-भाषा में नवजागरण के गीत गाने लगे। मुसलमानी आक्रमण होने से मंदिर और मूर्तियां तोड़ी गईं, अतः उनके आक्रोश से सुरक्षित रखने के लिए ही संत सम्प्रदाय ने अपने धार्मिक रूप को स्थूल होने से बचाया।.... तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों की परख कबीर में विशेषरूप से ज्ञात होती है। मुसलमानी धर्म के निराकार और निर्गुण ईश्वरवाद के समकक्ष ही उन्होंने अपने राम की कल्पना की। इसीलिए उन्होंने राम और रहीम, केशव और करीम को पर्यायवाची बना दिया और तत्कालीन विद्वेष भावनाओं को समाप्त करने के लिए ही ऐसे विश्व-धर्म की स्थापना की, जिसमें हिन्दू और मुसलमान एकसाथ सम्मिलित हो सकें।[1]

इस प्रकार कबीर ने मुसलमानी उपद्रव से हिन्दू धर्म की सुरक्षा के लिए मन्दिर और मूर्तियों से परे, निर्गुण निराकार ब्रह्म की उपासना तथा नाम की महत्ता पर बल दिया।

(२) सामाजिक पृष्ठभूमि

समाज राजनीति और धर्म की प्रयोग-शाला है। राजनीति युग-धर्म से मन्त्रणा कर समाज का संचालन करती है। राजनीतिक परिस्थितियों के अव्यवस्थित होने पर समाज के आचरण और व्यवहार में अन्तर आ जाता है। मध्य युगीन सामाजिक स्थिति स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखती। मुस्लिम आक्रमण भारतीय समाज -विभाजन में नवीन कड़ियां जोड़ता है, क्योंकि मुस्लिम समाज-व्यवस्था भारतीय सामाजिक व्यवस्था से भिन्न थी। इन शासकों की दो प्रकार की श्रेणियां थीं -- प्रधान और सामान्य। प्रधान

१- डा० रामकुमार वर्मा--हिन्दी साहित्य, भाग२: संतकाव्य(निबन्ध), पृ० १६८

सैनाधिकारियों को ही शासन-व्यवस्था का अधिकार प्राप्त था । इनमें से अधिकांश शासकों को न तो शासन-व्यवस्था की ही कोई चिन्ता थी और न प्रजा-वत्सलता की ही । उस समय उलमाओं का प्रभाव अधिक था । उनकी इच्छा के विरुद्ध जाना सुलतानों के लिए सम्भव नहीं था, इसीलिए सुलतानों ने उनके साथ समझौता करने में ही अपना कल्याण समझा । उलमाओं का मुस्लिम समाज में वही स्थान था, जो हिन्दू समाज में पुरोहितों का था। उस समय उलमा और पुरोहित दोनों अपनी-अपनी समस्याओं को सुलझाने में व्यस्त थे । हिन्दू-पण्डितों (पुरोहितों) के समक्ष ध्वस्त होते हुए हिन्दू धर्म को बचाने की समस्या थी और उलमाओं के समक्ष विरोधी तत्व वाली सामाजिक - व्यवस्था में अपने प्रभुत्व को अक्षुण्ण रखने की । ऐसी स्थिति में उलमाओं ने हिन्दुओं को या तो मुसलमान बनाना चाहा अथवा धर्म-परिवर्तन न करने पर उनकी हत्या चाही[१] ।

मुसलमानों के धर्म-सम्बन्धी अत्याचार से क्षुब्ध होकर हिन्दू समाज में स्वधर्म-रक्षण प्रवृत्ति तीव्र हो उठी । धर्म की सुरक्षा के लिए पुरोहितों ने जातिबन्धन के शिकंजे को इतना कसा कि हिन्दू-धर्म का लचीलापन जाता रहा तथा कच्छपवृत्ति की तरह वह सीमित घेरे में संकुचित होता चला गया और वह इतना संकुचित हुआ कि हिन्दू धर्म ख़तरे में पड़ गया । ऐसी स्थिति में रामानन्द और कबीर ने जाति बन्धन के कुप्रभाव को देखकर यह अनुभव किया कि विदेशियों के धर्म-प्रचार का मुक़ाबिला करने के लिए हिन्दू धर्म का पुनर्संगठन आवश्यक है । जाति-भेद यदि शिथिल न किया गया तो धर्म की रक्षा सम्भव न हो सकेगी । अतः जाति बन्धन को तोड़ने के लिए 'हरि को भजे सो हरि का होई' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया । कबीर की रचनाओं में उस समय के जाति-भेद की संकीर्णता का स्पष्ट उल्लेख मिलता है ।

१- अलबेरुनी, भाग१(भूमिका), पृ०२३

.... तुम कत ब्राह्मण हम कत सूद ।
हम कत लोहू तुम कत दूध ।।
कहु ह कबीर जो ब्रह्म बीचारै ।
सो ब्राह्मण कहीअतु है हमारै ।।[१]

इस प्रकार जाति-भेद की संकीर्णता के कारण समाज की एकरूपता छिन्न-भिन्न हो चुकी थी, जिसका एक कारण और भी था, वह यह कि शासन-सूत्र अपने हाथ में लेने के कारण मुसलमान, हिन्दुओं को हेय दृष्टि से देखते थे। दूसरी ओर मुसलमानों के अत्याचारी और विधर्मी होने के कारण हिन्दू भी उन्हें घृणा की दृष्टि से देखने लगे थे। इन दोनों वर्गों के बीच चौड़ी खाई निरन्तर बढ़ती जा रही थी। दोनों का समझौता अत्यन्त दुरूह था, फिर भी कबीर ने हिन्दू और मुसलमानों के बीच द्वेष की दीवार तोड़कर उन्हें एक ही परिवार का सदस्य घोषित किया। दो परस्पर विरोधी वर्गों का यह द्वन्द्वात्मक सम्मिलन था। उस समय समाज निम्न वर्गों में विभक्त था।

उच्चवर्गीयसमाज

इस वर्ग में हिन्दू और मुसलमान के जीवन-स्तर में विशेष अन्तर नहीं था। इस समाज में सम्राट या बादशाह प्रधान होता था तथा उसके नीचे शासकीय सामन्त एवं उच्च पदस्थ सेनाधिकारी होते थे। धर्म-सम्बन्धी अत्याचार इसी वर्ग से प्रारम्भ होते थे। मन्दिर गिराये गए, मूर्तियां तोड़ी गईं और प्रकट रूप से धर्म-साधना और उपासना का अधिकार नहीं रहा[२]। हिन्दुओं का महत्व मटियामेट हो गया तथा शेष रह गईं, केवल उनके पूर्व वैभव की गौरवपूर्ण कथाएं। विलासिता, इस वर्ग के जीवन की बुभुक्षा बन चुकी थी।

१- संत कबीर-- गउडी ७

२- एलियट -- भाग२ : 'तारीख-ए-यामीनी', पृ० २८, ३७

हिन्दुओं की सुन्दरी स्त्रियों के लिए मुस्लिम शासकों का आकर्षण भी कम नहीं था[1]। आक्रमण के कारणों में केवल धार्मिक मतवाद का प्रचार अथवा राजनीतिक सत्ता का प्रसार ही नहीं, बल्कि स्त्रियों का सौन्दर्य भी था[2]। इस समाज के जीवन में सबसे अधिक आकर्षण उद्दाम यौवन और सौन्दर्य के प्रति था। सुल्तान तथा हिन्दू राजे बड़े कामुक प्रवृत्ति के होते थे। विशाल अन्त:पुर उस युग का अनिवार्य फैशन था। बहु-पत्नी-प्रथा थी। साधारण श्रेणी का सामन्त भी बहुसंख्यक स्त्रियों, दासियों तथा नर्तकियों से घिरा रहता था। खाने जहां ने (जो फीरोज तुग़लक का मन्त्री था), लगभग दो सहस्र विभिन्न जातियों की स्त्रियां अपने अन्त:पुर में रख छोड़ी थीं। अकबर के हरम में पांच हजार स्त्रियां थीं। उनके भोजन-आच्छादन और विलास-सामग्री का प्रबन्ध करने के लिए एक पृथक् विभाग था[3]।

हिन्दू राजा भी मुसलमान-शासकों के पद-चिन्हों पर ही चलने का प्रयत्न कर रहे थे। मदान्ध राजा विलासिता के मद से अपने को बचा न सके। मालवा के राजपूत मन्त्री के अन्त:पुर में दो हज़ार स्त्रियां थीं। उनमें कुछ मुसलमान भी थीं[4]। दासी के रूप में सुन्दरी स्त्रियों की अच्छी कीमत वसूल होती थी। रूपवती स्त्रियां ५०० से लेकर १००० टंका तक में क्रय की जा सकती थीं और किसी-किसी युवती-दासी की कीमत दो हजार टंका तक पहुंच जाती थी[5]।

रेशमी तथा मलमल के वस्त्र ही इस समाज के व्यक्तियों के लिए परिधान थे। बादशाह रत्नजटित मूल्यवान् वस्त्र धारण करते थे।

१- तब वह अलाउद्दीं 'जा-सूक। लैउं नारि चितउर कै चूरु ।।'
--जायसी, पद्मा०, पृ०२४८

२- जामिउल हिकायत -- एलियट(भाग२), पृ०१६१

३- सत्यकेतु विद्यालंकार -- भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास', पृ० ४६८

४- कुंवर मुहम्मद अशरफ--'लाइफ एण्ड द कण्डीशन आव द पीपुल आव द हिन्दुस्तान', पृ० १४७

५- ,, ,, ,, ,, पृ०४३२

भोजन में पौष्टिक पदार्थों का सेवन करते थे। मांस उनके भोजन का प्रमुख अंग था तथा मद्य-पान का शौक तो इतना अधिक था कि विदेशों से बहुमूल्य मदिरा मंगाई जाती थी।

शासन-व्यवस्था शिथिल हो गई थी। अव्यवस्था फैली हुई थी। सैनिकों को एकत्र कर लूट-पाट द्वारा राज्यों की स्थापना होती थी। जो थोड़ी-सी सेना एकत्र कर लेता था, वही स्थानीय-शासक बन बैठता था[1]। शासनाधिकरण क्रूर था[2]। प्रजा के भाग्य जागने पर ही कभी कोई कृपालु राजा शासक होता था। मुस्लिम प्रभुत्व के साथ जिस रूप में मुल्ला और काजी का महत्व बढ़ा, उसी रूप में हिन्दू राज्यों के विघटन द्वारा ब्राह्मणों और पण्डितों का महत्व घटा। राजाओं द्वारा दी जाने वाली दान-प्रथा का अन्त होने लगा। यद्यपि परम्परा का पालन कुछ समय तक होता रहा, तथापि हिन्दू राज्यों के विघटन होने से पण्डितों का महत्व भी धीरे-धीरे समाप्त हो गया।

मध्यवर्गीय समाज

इस समाज के अन्तर्गत निम्नवर्गीय राजकर्मचारी, समृद्धिशाली शिल्पी, व्यापारी, अध्यापक वर्ग तथा वैद्य आदि आते हैं। यह वर्ग बादशाहों को अधिक महत्व देता था, यहाँ तक कि बादशाह ईश्वर तुल्य माने जाते थे। सुलतान मराडलीक राजाओं का सरदार था[3]। वह साधारण प्रजा के हित की लेशमात्र भी चिन्ता नहीं करता था। अपने वैभव तथा विलास के लिए कर वसूल करना उनके आक्रमण का प्रमुख लक्ष्य था। शासन-क्षेत्र में वह स्वतन्त्र था, तथा उसके अधिकार की कोई निश्चित सीमा नहीं थी[4]। उसका

१- मोहन सिंह वैद्य, -- आदि ग्रन्थ (आदि श्री गुरु ग्रंथ साहेब जी) अतरन-तारन, अमृतसर, १९२७ ई०।
२- 'कलि में नृप होइहैं अन्यायी' — सू०सा० पृ ४९३४
३- 'और हैं आज काल के राजा, मैं तिनमें सुलतानु।' सू०सा० १४५
४- 'नृप पाप परायन धर्म नहीं, करि दण्ड विडंब प्रजा नितहीं।
रामचरित मानस, उत्तर १०१

उसका जीवन विलासितापूर्ण था[1]। युवा-वस्था को विलास-क्रीड़ा का काल माना जाता था।

यह समाज झूठी शान-शौकत, थोथी मानप्रियता और उद्देश्यहीन आचार-विचार में मग्न था। एक-दूसरे के व्यवहार से असन्तुष्ट होने के कारण 'निन्दा-प्रवृत्ति' बढ़ गई थी। उनके जीवन के प्रत्येक कार्य में वास्तविकता कम, किन्तु बाह्याडम्बर ही अधिक रहता था[2]।

निम्नवर्गीय समाज

इस समाज के अन्तर्गत अंत्यज ग्रामीण कृषक, चर्मकार चाण्डाल, शिल्पी, श्रमजीवी एवं नौकर-चाकर तथा दोलावाही (डोली ढोने वाले) आते हैं[3]। अलबेरुनी ने चर्मकार, तन्तुवाय, केवट तथा मछुआ आदि की गणना अन्त्यजों में की है। हाड़ी, डोम, चाण्डाल को इनसे भी निम्नवर्ग का उसने माना है[4]। समाज में इस वर्ग का स्तर बहुत निम्न कोटि का था। अत्यधिक परिश्रम के पश्चात् येन-केन-प्रकारेण इनका उदर-पोषण हो पाता था। कभी-कभी तो इसे फाकेकशी में दिन बिताने पड़ते थे[5]। अमीर खुसरो के कथनानुसार 'दरिद्र किसानों की आंखों से उमड़ने वाली रक्तिम आंसुओं की बूंदें ही राजकीय मुकुट की मणियां थीं।' निर्धन होने के कारण ही यह समाज बेईमानी तथा दुर्व्यसनों से दूर था। इसके सामने अर्थ-संकट ही प्रमुख समस्या थी। कृषक, कृषि विहीन, बनिया वाणिज्य विहीन तथा नौकर, नौकरी विहीन हो चुके थे। पेट की भयंकर ज्वाला को बुझाने के लिए ही किसान, मजदूर, बनिये,

---

१- बरनौ राज मंदिर रनिवासू । अछरिन्ह भरा जानु क बिलासू ॥
जा०ग्रं० पृ० १५२।४६
२- डा० धीरेन्द्र वर्मा --'सूर सागर सार' पद ३२
३- बृहद् धर्म पुराण--(जिसकी रचना मुस्लिम राज्य की स्थापना के कुछ बाद हुई है।)
४- अलबेरुनीज इण्डिया, भाग १, पृ० १०१
५- कुंवर मुहम्मद अशरफ --'लाइफ एण्ड कण्डीशन आव द पीपुल आव द हिन्दुस्तान', पृ० २०४।
६- कुल्लियात-ए-खुसरो', पृ० २०४-२०५।

नौकर, भाट, भिखारी, चोर, हलकारे आदि अच्छे-बुरे सब तरह के कर्म करने के लिए तैयार हो जाते थे। यहाँ तक कि उदर-पूर्ति के लिए लोग अपने बेटा-बेटियों तक को बेंच देते थे। यह पेट की अग्नि बड़वाग्नि से भी बड़ी है[1]। सारा परिवार रोजगार करता, परिश्रम करता, फिर भी भरपेट अन्न मुहाल था[2]। किसी-किसी प्रकार से उदर-पोषण के लिए सत्तू, पहनने के लिए जीर्ण-शीर्ण वस्त्र, तथा सोने के लिए टूटी मचान होती थी[3]। बिना उदर-पूर्ति के भक्ति भी सम्भव नहीं थी। दाल-सीधा के साथ यदि घी मिल जाता तो अहो भाग्य समझा जाता था[4]। कबीरदास जी माँ एक दिन के भोजन के लिए दो सेर आटा, आधा सेर दाल और पाव भर घी के साथ थोड़ा नमक चाहते हैं। एक चार पैरों वाली (तात्पर्य यह कि जो टूटी न हो) चारपाई, सिरहाने रखने के लिए तकिया, ओढ़ने के लिए कम्बल और एक मोटी सिंथा[5]। इस प्रकार इनका जीवन कठिनाइयों से भरा था।

पारिवारिक जीवन

प्राचीन काल से ही भारतीय परिवार एक आदर्श कुटुम्ब के रूप में माना जाता था, किन्तु मध्य-युग के आते-आते इसमें अस्त-

---

१- तुलसीदास --'कवितावली' उत्तरकाण्ड, (कवित्त) ६६-७७

२- सुग्गे से परदेशी अपने घर का समाचार पूछता है, उसपर सुग्गे का उत्तर है--
माई तोहरा कूटनी, बहिनी तोहरा पिसनी।
कि जइहा कइली ना, तोरा नउरी दोकनिया।।(एक भोजपुरी गीत)

३- बाबा घरे रहलीं त दुध भात खइलीं,
अरे सइयाँ घरे सुतलीं मोहाल।
बाबा घरे रहलीं त चुनरी पहिरलीं,
अरे सइयाँ घरे लुगरी पुरान।
बाबा घरे रहलीं त सेजिया डेसवलीं
अरे सइयाँ घरे टुटही मचान ।।(भोजपुरी गीत)

४- दाल सीधा मागउ घीउ । हमारा खसी कौ नित जीउ ।।
आ०गुं० धन्ना, धनासिरी, पृ०३४।

५- मूले भगति न कीजै । यह माला अपनी लीजै ।
दुइ सेर मागउ चना । पाउ घीउ संग लूना ।।
अधसेर मागउ दाले । मोकउ दोऊ बखत जिवाले ।।
खाट मागउ चउपाई । सिरहाना अवर लुनाई ।।
ऊपर कउ मागउ सीधा तेरी भगति करै जन बीधा ।।
--डा० रामकुमार वर्मा--एवं कबीर, रागु धनासिरी ११, पृ०१४०

व्यस्तता आ गई । बहुपत्नीत्व प्रथा के कारण उत्पन्न सपत्नी-डाह से उच्चवर्गीय समाज में परिवार गृह-कलह के निवास-स्थल बन गए थे । --

नैहर जनमु भरब बरु जाई । जियत न करब सवति सेवकाई[१] ।।

निर्धन होने के कारण निम्नवर्गीय परिवार कलह-मुक्त था, किन्तु दारिद्र्य कष्ट था । रहने तक का ठिकाना नहीं था । घर जर्जर था, बंडेरी तक सीधी नहीं और ओलती अररा रही थी कि अब गिरी कि तब गिरी[२] । आर्थिक संकट के कारण घरेलू जीवन शान्तिमय नहीं था । पिता-पुत्र, पति-पत्नी, सास-पतोहू और ननद-भावज के सम्बन्ध सन्तोषजनक नहीं थे । घर संग्राम-स्थल बना रहता था[३] । बच्चों के भरण-पोषण की चिन्ता करते हुए माता पुत्र के निठल्लेपन के कारण क्षुब्ध होती तथा रोती थी[४] ।

कृषि एवं व्यवसाय

अकाल पीड़ित होने के कारण कृषक भूखों मरते थे[५] । जो कुछ थोड़ा अन्न उत्पन्न भी होता था, उसे अन्यायी राजा बलपूर्वक ले लेता था[६] । साधु-संत भी कम दबंग नहीं थे । वे खेत की फसलें काट लेने के साथ ही साथ कृषकों को आतंकित भी किया करते थे[७] । व्यवसाय भी उतना अच्छा नहीं था, जिससे उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके । आर्थिक

१- रामचरित मानस: अयोध्या काण्ड, दोहा २०१

२- घर जाजरी बलीड़ो टेढ़ो, ओलौती अरराइ ।

-- कबीर ग्रन्थावली, पद २२, पृ०६६

३० टूटी छाति मेघ जल बरसै । -- सूरसागर २३

३-(क) साधु बरा घरि बासु न देवै । पिउ सिउ मिलणन देइ बुरी ।।

--आदि ग्रन्थ नानक, १, पृ०३५५

(ख) ... दुसरे साधु ननद भारी बोली, छतिया मोरी फट जाई ।

-- पलटू साहब की बानी (भाग३) पद४५

४- मुनि-मुनि रोवै कबीर की माई । ए बारिक कैसे जीवहि रघुराई ।

-- सन्त कबीर, गुजरी २, पृ०१२६

५- कलि बारहिं बार दुकाल परै । बिन अन्न दुखी सब लोग मरैं ।।

-- रामचरितमानस, उत्तर०१०५

६- कलि मैं नृप होइहैं अन्यायी । कृषी अन्न लेहैं बरिआई ।।

-- ग्रा०ग्रा०, ८ (क०४८३०

७- पकि रह्यो खेत संत आय करि तारि लेत । जित रखवारे सुखसेत शोर किये है ।।

संकट से क्षुब्ध होकर कबीर की पत्नी ताना-बाना पर बल देती थी,[1] फिर भी परिवार का दारिद्र्य समाप्त नहीं होता था तथा आय बढ़ाने का सारा प्रयत्न व्यर्थ हो जाता था।

इस प्रकार मध्य युग की सामाजिक स्थिति नितान्त अव्यवस्थित थी, जिसका कारण उस समय की राजनीतिक तथा धार्मिक विषमता थी।

धार्मिक पृष्ठभूमि

धार्मिक दृष्टिकोण से मध्य-युग को पूर्व तथा उत्तर दो पक्षों में विभाजित किया जा सकता है। पूर्व पक्ष में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि धर्मान्ध तथा कट्टर आतंककारी शासकों की मनोवृत्ति आती है तथा उत्तर पक्ष में अपेक्षाकृत सहिष्णु तथा उदार शासकों के दृष्टिकोण का उल्लेख किया जा सकता है। राजनीति की इस स्थिति में धार्मिक पृष्ठभूमि पर विचार करना आवश्यक है।

पूर्व पक्ष

मुहम्मद-बिन-तुगलक (सन् १३२५-१३५१ई०) से लेकर इब्राहीम लोदी (सन् १५१८-१५२६ई०) तक के शासन-काल की सीमा दो सौ वर्षों की है-- इस बीच सोलह शासकों ने दिल्ली के तख्त को सुशोभित कर इस्लाम धर्म के प्रचार में कट्टर धर्मान्धता का परिचय दिया। बढ़ते हुए इस्लाम धर्म के प्रभुत्व के साथ ही साथ हिन्दू धर्म का ह्रास हो रहा था। कोई भी

१- ताना बाना कछू न सूझै
जब की माला लई निपूते, तब तें सुखु न भइयो।
--सन्त कबीर, रागु बिलावलु४, पृ० १५५

२. सन्त कबीर, रागु गउड़ी, ५४, पृ० ५७

हिन्दू मन्दिर में नहीं जाने पाता था, यहाँ तक कि उन्हें दण्ड देकर इस्लाम धर्म स्वीकार करवाया जा रहा था तथा ऐसा न करने पर उन्हें प्राण-दण्ड भी दे दिया जाता था।

बढ़ते हुए मुसलमानों के आतंक ने ने हिन्दुओं के हृदय में भय की भावना उत्पन्न कर दी थी। हिन्दुओं में मुसलमानों से लोहा लेने की शक्ति नहीं थी। वे मुसलमानों को न तो पराजित कर सकते थे और न अपने धर्म की अवहेलना ही सहन कर सकते थे। इस असहायावस्था में उनके पास ईश्वर से प्रार्थना करने के अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं था। वे ईश्वरीय शक्ति और अनुकम्पा पर ही विश्वास रखने लगे। कभी-कभी यदि वीरत्व की चिनगारी भी कहीं पील पड़ती थी तो वह दूसरे क्षण ही बुझ जाती थी या बुझा दी जाती थी[१]। ऐसी परिस्थिति में हिन्दू धर्म खतरे में पड़ा हुआ था, उसी समय सन्त कबीर का आविर्भाव हुआ। विषम परिस्थिति होने पर भी उनका दृष्टिकोण हिन्दू-मुस्लिम एकता का था। उन्होंने ऐसे ईश्वर को स्वीकार किया, जो हिन्दू और मुस्लिम दोनों धर्मों में समानरूप से ग्राह्य हो सके। उनके 'राम' दशरथ-सुत न होकर सर्वव्यापी ब्रह्म थे।

'दशरथ सुत तिहुं लोक बखाना । राम-नाम का मरम है आना ।।'

उनका ईश्वर एक है[२]। उसके कोई मुख-माथा, रूप कुरूप नहीं है[३]। वह निर्गुण और सगुण से परे[४] रहकर पुष्प की सुगन्धि से भी सूक्ष्म है। वह अवर्णनीय, अनुभवगम्य

१-डा० रामकुमार वर्मा --'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' (पंचम संस्करण), पृ० १६२।

२- मेरा साहब एक है, दूजा कहा न जाय।
साहिब दूजा जो कहूं, साहब खरा रिसाय ।।(कबीर वचनावली)

३- जाके मुख माथा नहीं, नाहीं रूप कुरूप।
पुहुप बास तें पातरा, ऐसा तत्व अनूप ।।(कबीर वचनावली)

४- निर्गुण की सेवा करो, सगुण को करो ध्यान।
निर्गुण सगुण से परे, तहां हमारो ज्ञान ।।
(कबीर वचनावली)

तथा ज्योति-स्वरूप है। हिन्दुओं के राम तथा मुसलमानों के रहीम उसी के रूप हैं।

कबीरदास ने अवतारवाद, मूर्ति-पूजा, तीर्थ-व्रत तथा कर्मकाण्ड के विरोध के साथ ही साथ हलाल, रोजा और नमाज आदि का भी खण्डन किया है। उन्होंने बाह्याडम्बर, पूजा-पाठ, माला-जाप आदि का तीव्र विरोध कर आन्तरिक पवित्रता को महत्व दिया।

माला फेरत युग गया, गया न मन का फेर।
कर का मनका डार दे, मन का मनका फेर ।।

इसके साथ ही साथ ईश्वर के 'नाम-स्मरण' की महत्ता स्वीकार की है।

कबीर ने तत्कालीन वातावरण को दृष्टि में रखते हुए हिन्दू और मुस्लिम धर्म की सार भूत बातें ग्रहण कर एक नवीन पंथ की स्थापना की, जिससे हिन्दू और मुसलमानों में सौहार्द स्थापित हो सके। उनके इस पंथ की अमिट छाप मुसलमानों पर भी पड़ी, फलत: कुछ मुसलमान भी धीरे-धीरे इनके पंथ को स्वीकार करने लगे। कबीरदास जी के पश्चात् इनके अनुयायियों ने भी इन्हीं के सिद्धान्तों का अनुसरण किया। इस परिस्थिति से स्पष्ट होता है कि भक्ति-आन्दोलन के इस पूर्व पक्ष में धर्म बहिर्मुखी न होकर अन्तरमुखी हो गया। अर्थात् कर्मकाण्ड और बाह्याडम्बर की अपेक्षा मानसिक उपासना और नाम-स्मरण पर अधिक बल दिया जाने लगा। इस भाँति धर्म जो आचार और व्यवहार के माध्यम से स्थूल था, वह अन्तरपक्ष में आकर सूक्ष्म हो गया और मन्दिर एवं मूर्तियों के स्थान पर धार्मिक आस्था ने ही मंदिर का और एकान्त नाम-स्मरण ने ही मूर्ति का रूप धारण कर लिया।

उत्तर पक्ष

धर्मान्ध कट्टर नृशंस मुस्लिम-शासकों के आतंक के उपरान्त हिन्दू जनता को इस युग में सुख-शान्ति मिल सकी। यह युग था--

हिन्दू-जनता के प्रति उदार तथा हिन्दू धर्म के प्रति सहिष्णु सम्राट महान अकबर का। हिन्दू धर्म के प्रति बादशाह की सहिष्णुता देखकर इस्लाम की प्रतिक्रिया के रूप में जनता पुनः सगुण भक्ति की ओर उन्मुख हुई, फलतः राम और कृष्ण के अवतार रूप की महत्ता प्रसारित हुई। गोस्वामी तुलसीदास ने इष्टदेव के रूप में दशरथ-सुत राम की आराधना की तथा सूरदास ने श्रीकृष्ण का लीला-गान किया। राम के व्यक्तित्व में शैव, शाक्त और पुष्टिमार्गियों के आदर्शों का योग देकर तुलसीदास ने राम-भक्ति में व्यापकता के साथ ही साथ शक्ति भी ला दी। शैव और वैष्णवों की विचार-भिन्नता की समाप्ति तुलसीदास की लेखनी से हुई[1]। तुलसीदास जी वैष्णव-भक्त थे तथा पंच देवताओं की पूजा में विश्वास किया करते थे। वे देवता हैं-- विष्णु, शिव, दुर्गा, सूर्य और गणेश[2]। इन्हीं देवताओं की स्तुति से उन्होंने 'विनयपत्रिका' प्रारम्भ की है। राम की स्तुति सम्पूर्ण ग्रन्थ में है। राम-भक्ति ही इस ग्रन्थ का आदर्श है। 'कवितावली' में राम के ऐश्वर्य को महत्व दिया गया है। अन्य काण्डों की अपेक्षा उत्तरकाण्ड में ज्ञान, वैराग्य और भक्ति की महिमा ही अधिक है। राम की कथा हिन्दी साहित्य के सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ 'रामचरित मानस' में सात सोपानों में वर्णित है। इस ग्रन्थ में गोस्वामी तुलसीदास ने धार्मिक सिद्धान्तों का अत्यन्त स्पष्टता के साथ निरूपण किया है। यद्यपि 'वाल्मीकि रामायण' में राम को महापुरुष के रूप में स्वीकार कियागया है, तथापि 'अध्यात्म रामायण' में उनका व्यक्तित्व ईश्वर के रूप में ही है। तुलसीदास पर भी अध्यात्म रामायण का प्रभाव है, जिससे प्रभावित होकर राम के ब्रह्मत्व की ओर संकेत किया है[3]। तुलसीदास धार्मिक सिद्धान्तों में बहुत सहिष्णु थे।

१- डा० रामकुमार वर्मा -- 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' (पंचम संस्करण) रामनारायणलाल बेनीप्रसाद, प्रयाग।

२- 'ए आउटलाइन आव दि रिलिजस लिटरेचर आव इंडिया' (फर्कुहर) पृ० ९७६

३- तुलसी ग्रन्थावली, प्रथम खण्ड (मानस), पृ०७

अत: उन्होंने अद्वैतवादियों और विशिष्टाद्वैतवादियों का विरोध दूर करने के लिए राम के व्यक्तित्व में दोनों 'वादों' को सम्मिलित कर दिया[1]।

हिन्दी साहित्य में काव्य-सौन्दर्य का अथाह सागर भरने वाले महाकवि सूरदास का नाम बड़ी श्रद्धापूर्वक लिया जाता है। ये अष्टछाप के कवियों में अग्रगण्य हैं। इनके ग्रन्थों में 'सूर सागर' का विशेष महत्व है। 'सूर सागर', 'श्रीमद्भागवत्' के आधार पर द्वादश स्कन्धों में लिखा गया है, जिसका विस्तार सूरदास ने अपनी काव्य-दृष्टि के अनुसार ही किया है। प्रथम स्कन्ध में विनय के पद हैं, जिनमें सूरदास का दास्य-भक्ति-भाव प्रकट हुआ है। द्वितीय स्कन्ध में भक्ति-भाव, तृतीय से अष्टम स्कन्ध तक विष्णु के अवतारों का वर्णन तथा नवम् स्कन्ध में रामावतार की कथा वर्णित है। 'सूर सागर' में दशम स्कन्ध का अधिक महत्व है, इसलिए कि उसी स्कन्ध में सूर के आराध्य श्रीकृष्ण का चित्र उत्कृष्ट रूप में चित्रित किया गया है। दशम स्कन्ध के पूर्वार्द्ध भाग में श्रीकृष्ण के प्रति माधुर्य और वात्सल्य भावनाओं की पुष्टि हुई है। पूर्वार्द्ध भाग विस्तृत तथा उत्तरार्द्ध भाग संक्षिप्त है। इस प्रकार सम्पूर्ण सूरसागर में धार्मिक भावना का महत्वपूर्ण स्थान है।

विट्ठलनाथ द्वारा स्थापित अष्टछाप के कवियों में सूरदास के बाद नन्ददास का स्थान है। 'रासपंचाध्यायी' में उन्होंने भक्तिमय रहस्यवाद का परिचय दिया है। कृष्ण-गोपी-चित्रण में आध्यात्मिकता का संकेत है। इनके अतिरिक्त अष्टछाप के शेष छ: कवि निम्नलिखित हैं-- कृष्णदास, परमानन्ददास, कुंभनदास, चतुर्भुजदास, छीत स्वामी, तथा गोविन्द-स्वामी। इन समस्त कवियों के पद अधिकतर श्रीकृष्ण के क्रिया-कलापों से ही सम्बन्धित हैं, जिनका दृष्टिकोण भक्तिपरक है। इस भक्ति को सबसे अधिक 'प्रोत्साहन पुष्टिमार्ग' से मिला।

अत: मध्ययुग में 'राम काव्य' और 'कृष्ण काव्य' की परम्परा में धर्म का उच्चस्तरीय विकास सम्भव हो सका।

१- डा० रामकुमार वर्मा -- 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' पृ० ४४६।

(घ) दक्षिण से उत्तर के अभियान में भक्ति-सम्प्रदाय में संशोधन

दक्षिण से उत्तर के अभियान में इस भक्ति-सम्प्रदाय के सम्मुख अनेक बाधाएं उपस्थित हुईं । उत्तर की यात्रा में भक्ति की लहर जब महाराष्ट्र में पहुंची तो वहां नाथ सम्प्रदाय की परम्परा में पोषित वारकरी सम्प्रदाय का विशेष प्रभाव था । इस सम्प्रदाय ने सहज ही पाण्डुरंग को आराध्य मानकर ज्ञान और भक्ति का एक साथ प्रचार किया, वह इस भक्ति के विकास में कुछ संशोधन करने में समर्थ हुआ, क्योंकि नामदेव मूर्ति-पूजा के साथ नाम माहात्म्य को भी साधन का अंग समझते थे । इसी के साथ सन् १२०६ ई० में 'विट्ठल सम्प्रदाय' का प्रचार हुआ । इस सम्प्रदाय के सन्तों ने शिव और विष्णु में अभेद दृष्टि रखते हुए शैव सम्प्रदाय और वैष्णव सम्प्रदाय के मिश्रित रूप को स्वीकार किया । इस भांति 'महाराष्ट्र में दक्षिण की भक्ति को लेकर तेरहवीं शताब्दी के आस-पास ऐसी विचारधारा प्रवाहित हुई, जिससे विट्ठल (जो ब्रह्म के प्रतीक मान लिए गए थे) प्रेम के आराध्य बन गये और उनकी पवित्र प्रेम-धारा में जाति और वर्ग का सारा द्वेष बह गया और नाम का संस्कार हृदय में स्थिर हो गया[1]।'

उत्तर भारत में पन्द्रहवीं शताब्दी में यह भक्ति निर्गुण सम्प्रदाय के रूप में प्रचारित हुई । इस सम्प्रदाय की स्थापना के परिणामस्वरूप ही 'दक्षिण से उठने वाली भक्ति की जो धारा उत्तर तक आते-आते अनेक संशोधनों के साथ अपनी शक्ति बहुत कुछ खो चुकी थी, वह फिर अपने नए रूप में व्यवस्थित हो गई[2]।'

१- डा० रामकुमार वर्मा -- सन्त काव्य। हिन्दी साहित्य (द्वितीय खण्ड), पृ० १६१ (निबन्ध)

२- " " " " " " पृ० १६३

इस प्रकार दक्षिण से उत्तर की ओर आते-आते इस भक्ति में बहुत कुछ संशोधन हुए, इसका रेखा-चित्र इस प्रकार है :--

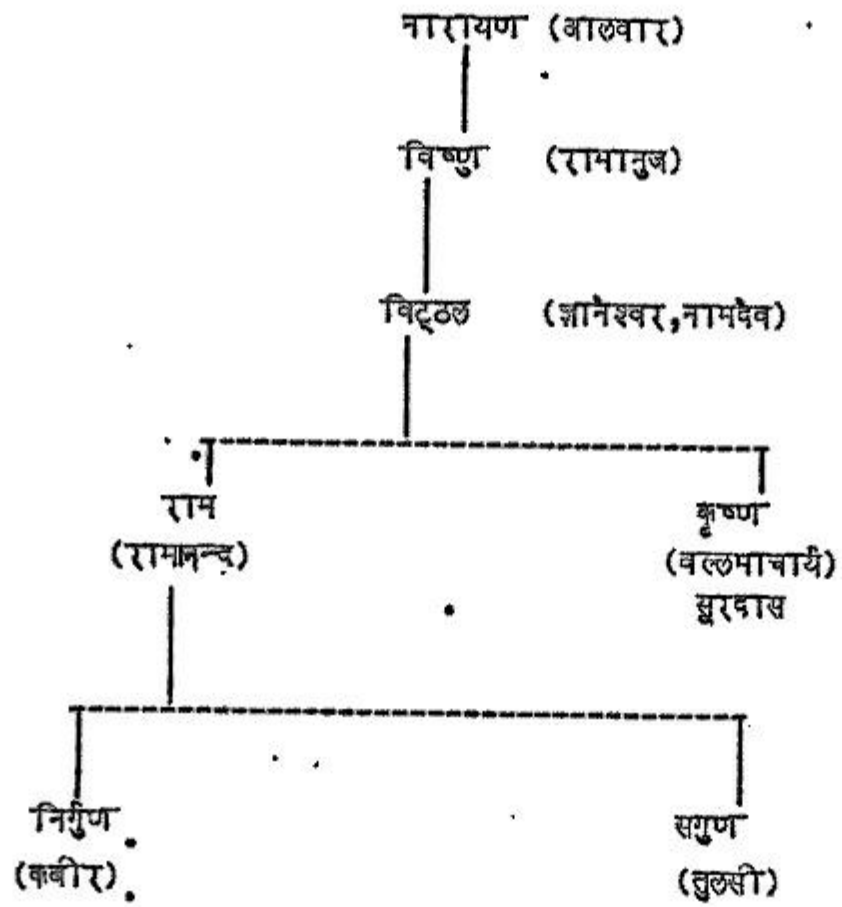

-o-